



**Municipal Library,
NAINI TAL.**



Class No.

Book No.

गंगा-पुस्तकमाला का १४८वाँ पुष्प

प्रबंध-पद्म

(मौलिक निबंध)



सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

१४८

प्रबंध-पत्र

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

कुछ चुनी हुई साहित्यिक पुस्तकें

दुलारे-दोहावती	२)	काव्य-करणसुत	२॥, ३)
हास्य-रस	१), १२)	मिश्रबंधु-विनोद	
मिश्रबंध-विनोद	११), १११)	(चार भाग)	१०)
छात्रभाष्य	११) ११),	साहित्य-संदर्भ	११), २)
विश्व-साहित्य	११), २)	वैषय-खरित-वर्षा	११), ११)
हिंदी-नवरत्न	११), २)	किञ्चुक	११), ११)
देव और विहारी	१११), २)	आर्चन पंडित और कवि	
भवभूति	१२), १२)		११२), १२)
पूर्ण-संग्रह	१११), २)	साहित्य-सुमन	१२), १२२)
हिंदी-साहित्य-विसर्ग	११), १११)	संभाषण	१), ११)
भारत-गीत	११२), १२२)	सौंदरानंद-लहाकाव्य	११), १)
उषा	१२), १२)	शकुंतलालाप	१), १११)
पद्य-पुष्पांजलि	१११), २)	विहारी-नलाकर	२)
पराग	११), १)	मतिराम-मंथावती	२१), ३)
परिमल	१११), २)	हिंदी	१२), १२)
लतिका	१), १११)	प्रसादवी के दो नाटक	१), १११)
वतिरानी	१११), २१)	नल नरेश	२१), ३)

सब प्रकार की हिंदी-पुस्तकें मिलाने का पता—

गंगा-प्रथागार, ३६ लाटूश रोड, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का १४८वाँ पुष्प

प्रबंध-पत्र

[चुने हुए साहित्यिक निबंध]

लेखक

पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

[अलका, अम्बारा, बिजौ, परिमल, उच्छुंखल,
महाभारत आदि पुस्तकों के रचयिता]

— :०:—

मिलने का पता—

गंगा-अंधागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिहद ३॥] सं० १३६१ वि० [सादी १]

प्रकाशक
श्रीदुखारेकाज भागव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

गंगा-ग्रंथागार	सिविल लाईंस, आजमेर
गंगा-ग्रंथागार	१६५१, हरीसन रोड, कलकत्ता
गंगा-ग्रंथागार	सशाफा बाजार, खागर
गंगा-ग्रंथागार	कोटगेट, बीकानेर
गंगा-ग्रंथागार	नीलकंठ स्ट्रीट, हरियागंज, दिल्ली
गंगा-ग्रंथागार	४२८, लैमिंगटन रोड, बंबई

तथा प्रचारक—सैकड़ों जगह

मुद्रक
श्रीदुखारेकाज भागव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

प्रवे श-पदा



आचार्य श्रीमत्स्वामी सारदानंदजी महाराज
(पूर्व सेक्रेटरी, रामवृष्ण-मिशन)

Ganga Fine Art Press, Lucknow.

समर्पित

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के पद को प्राप्त कर मेरे मनो-
राज्य के सत्य, शिव और सुंदर आचार्य श्रीमत् स्वामी सारदा-
नंदजी महाराज की स्नेह-दृष्टि की समर्पित 'प्रबंध-पद्म' ।

कृपाकांक्ष—

सूर्यकांत

संपादकीय वक्तव्य

कविवर विराटाजी में सर्वतोयुद्धी प्रतिभा है। यह जैसे उच्च कोटि के कवि हैं, वैसे ही उच्च कोटि के उपन्यास-लेखक, कहानी-लेखक, गीतिकार, दार्शनिक, समालोचक और प्रबंध-लेखक भी। नाटक उन्होंने अभी तक कोई नहीं लिखा। किंतु, मेरा विश्वास है, जो 'जया'-नाटिका वह लिखने जा रहे हैं, वह सुंदर वस्तु होगी।

विराटाजी धनेक भाषाओं के विद्वान हैं। संस्कृत, अँगरेजी, बँगला, हिंदी (खाड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा अवधी) में तो उनकी अच्छी गति है ही, अथ उर्दू का भी वह अध्ययन कर रहे हैं। वह खड़ी बोली, ब्रजभाषा और अवधी में समान रूप से लिख सकते हैं, और तीनों भाषाओं में उन्होंने प्रगल्भनीय काव्य का सृजन किया भी है। ब्रजभाषा में गोविंददास-पदावली-नामक सुंदर बँगला-काव्य का जो सरस अनुवाद उन्होंने किया है, जो अभी छपा नहीं, वह हमारे इतने कथन का प्रमाण है। उनमें वक्रत्व-शक्ति भी है। खड़ी बोली, अवधी और बँगला में हमने उन्हें अधिकार के साथ बोलते हुए सुना है। अस्तु।

हमें तो विराटाजी के मे निबंध बहुत पसंद आए। आपमें समालोचना-शक्ति बहुत अच्छी है। वह काव्य को समझते और उसकी तरह तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं। इस प्रबंध-पत्र के पराग से प्रेमी जन प्रसन्न होंगे, इस प्रवृत्ति के साथ हम इसे साहित्य-संसार के समुद्र सञ्चालित कर रहे हैं। इन प्रबंधों में 'शून्य और शक्ति', 'पंतजी और पल्लव', 'भुसलमान और हिंदू कवियों में विचार-साम्य'-शीर्षक प्रबंध तो स्थायी साहित्य में सुंदर स्थान

(८)

ग्रहण करने के सर्वथा अधिकारी हैं। यह संग्रह प्रथमा-मध्यमा और
षुक्र० ए०-बी० ए० में पढ़ाया जा सके, ज़रूरत से ज्यादा बढ़ा न हो
जाय, हस्तलिखे निराशाही के और आक्के नियंत्रण हमने रोक विगु हैं।
यदि हमारा यह उद्योग हिंदी-भाषा-भाषियों—विशेषकर शिक्षा-
संस्थाओं—को परसंद आया, तो उन्हें हम दूसरे संग्रह में सजाकर
सेवा में पेश करेंगे। तथास्तु।

कवि-कुटीर
२५।७।३३

} डॉ. रामलाल अग्रवाल

निवेदन

मैंने अभिन्न पथों के साथ प्रबंध लिखने का श्रीगणेश किया था । मेरे अधिकांश शिक्षित शुभेच्छु मित्रों को निबंध पसंद आए थे । उन्होंने साहित्य एवं दर्शन पर लेख-आलोचनाएँ आदि लिखते रहने के लिये मुझे प्रोत्साहन दिया था । 'समन्वय' के संपादक पूज्य-चरण स्वामी साधवानंदजी सरस्वती, आचार्यप्रवर पूज्यप्राद पंडित महा-वीरप्रसादजी द्विवेदी, महापंडित (स्वर्गीय) स्वामी प्रज्ञानंदजी सरस्वती, विद्वह्वर आचार्य पंडित सकलनारायणजी शर्मा आदि श्रद्धेयों द्वारा मुझे अनेकोपाय प्रोत्साहन मिलते रहे हैं । 'समन्वय' में 'एक दार्शनिक' के नाम के निबंधों को देखकर स्वामी साधवानंदजी महाराज ने मुझे प्रसिद्ध नाम से प्रकाश में आने की आज्ञा दी थी । मेरे सामयिक सहृदय अनेक मित्रों ने भी मुझे श्रौंखों पर रक्खा, बढ़ावा दिया । मैं अंतःकरण से उनका कृतज्ञ हूँ । इतल आकार में मेरे प्रबंधों की पृष्ठ-संख्या हजार से ऊपर होगी, पर ज्योतिश्चल सालाप ज्ञाया-चित्र नाटकों की तरह बाज़ार की चीज़ न होने के कारण वे मासिक और साप्ताहिक साहित्य के पृष्ठों में मुँह छिपाकर, अभ्यास-चक्रधर जन-विष्णुओं के रक्षण से बाहर, दैत्यों की संज्ञा में, पड़े रहे । आज इसीलिये इतने संकुचित हैं ।

इन प्रबंधों में दो-चार जगह जो अम हो गए हैं, उन्हें पाठक क्षमा करें । २३वें पृष्ठ में 'जीर' 'जीर' हो गया है, ४८वें पृष्ठ में 'अज्ञ' 'आप्य' छुप गया है । २५वें पृष्ठ पर 'कंथा'-शब्द मेरे ज्ञात भाव से पुंलिंग में आया है । संस्कृत में यह स्त्रीलिंग है । पर हिंदी में बहुत-

से आकारांत शब्द पुंलिंग में ही प्रचलित हैं—वचने पाठशाले पढ़ने जाते हैं, लोग धर्मशाले में टहरते हैं, उन्हें मोहन-माला अच्छा लगता है । आज हिंदी में लोग शाला-माला का स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं । मैं उनका विरोध नहीं करता, केवल यह निवेदन करता हूँ कि हिंदी की पूर्व विमोचता के कारण मैंने कथा को पुंलिंग में लिखा । १५७वें पृष्ठ पर विद्यापति का एक पद मैंने बँगला के अनुसार रक्खा है, क्योंकि उन्हें मैंने बँगला में ही पढ़ा था ।

क्षमार्थी—

‘बिराला?’

निबंध-सूची

विषय	पृष्ठ
१. शून्य और शक्ति	१
२. साहित्य और भाषा	४
३. सुसज्जमान और हिंदू-कवियों में जितार-साम्य	१३
४. एक वात	४५
५. पंतजी और पञ्चम	५६
६. राष्ट्र और नारी	१०६
७. रूप और नारी	१५७
८. हमारे साहित्य का ध्येय	१५८
९. काव्य में रूप और अरूप	१६५
१०. साहित्य का फूल अपने ही बुँत पर	१७६

प्रबंध-पत्र

शून्य और शक्ति

शून्य या विंदु सब शास्त्रों में, सब तरफ, सब समय, स्वयं-सिद्ध है। उद्भव, स्थिति और प्रलय का शून्य ही मूल-रहस्य है। केवल शक्ति संसार को शून्य से अलग किए हुए है, दूसरे तरीके से, शून्य को ही व्याख्या करने में सदैव तत्पर। लोग गणित या गणना में पड़कर हिसाब जोड़ते, संख्या ठीक करते, उसकी वृद्धि में लगे हुए शून्य को नफरत की निगाह से देखते हैं, पर अगल-बगल से शून्यों से दबी हुई उनकी संख्या आप बृहत् ज्ञान के मुकाबले असिद्ध रह जाती है। गणित की संख्या की तरह संसार के जीव और तमाम भावनाएँ दोनों तरफ से शून्यों से दबे हुए हैं।

संख्या का उद्गम-स्थल है शून्य ०। इस शून्य की दाहनी तरफ अगणित प्रसार तक संख्या बढ़ती है, और बाईं तरफ अगणित प्रसार तक घटती है (दशमिक द्वारा)। सौ, हजार, लाख, करोड़ आदि के किसी कोठे में रह जाना गणित का मूल-तत्त्व हासिल कर लेना न हुआ, जब कि संख्या और बढ़ सकती है; यही बात घटाव के संबंध में भी; पुनः संख्या द्वारा

दोनों तरफ के घटाव-बढ़ाव के दो अगणित दो शून्य ही हुए। फिर तीन शून्यों का समधर्म में एक शून्य रह जाना बिलकुल स्वाभाविक है। अतः शून्य ही तमाम गणित का मूल आधार हुआ। रेखागणित में भी बिंदु सब कुछ है। बिंदु छीन लें, तो रेखाएँ, कोण आदि असिद्ध रह जायँ। यही बीज-गणित का हाल है। बीज स्वयं गोलाकृति शून्य है। उसकी जगह 'क' कीजिए या 'च', एक ही बात है।

अब संसार की भावनाएँ लीजिए। भावनाएँ शब्द-रचना द्वारा, एक-क विशिष्ट अर्थ तथा चित्र द्वारा परिस्फुट होती हैं। अर्थ शब्दों द्वारा, शब्द वर्णों द्वारा। ॐ सब वर्णों का सम्मिलित दृश्य रूप है। इसकी समाप्ति ऊपर के शून्य या बिंदु में होती है। फिर केवल शून्य रह जाता है। शून्य ही तमाम शब्द-विद्या का केंद्र-स्थल है, इसलिये संसार की व्यक्त-अव्यक्त सभी भावना शून्य में पर्यवसित हुईं।

आज पश्चिम के वैज्ञानिक विकास से पृथ्वी चमत्कृत है। वहाँ के विद्वान् कहते हैं, हम तरकी कर रहे हैं। यानी सभ्यता में संसरण जारी है। परंतु वे नहीं जानते, विज्ञान के उद्भव का शून्य जब अंत के शून्य को आविष्कृत कर लेगा, यद्यपि यह आविष्कार आविष्कारक-मन की मृत्यु है, अतएव क्रिया-रहित, तब बीच की कुल आविष्कार-प्रगतियाँ, एक युग की जोती-बोई हुई जमीन के पड़ती पड़ जाने की तरह, शून्य-फल रह जायँगी, निर्वात-वच्चः सर की तरंगों की तरह अचपल

शांति में लीन। ऐसा ही हुआ है; ऐसा ही होगा। फिर किसी अगले युग में पुनः-पुनः उसी शून्य-समाप्ति से आविष्कार होते रहेंगे—प्रकंपित मन की अलग-अलग सूरतें जड़ यंत्रों में परिणत होती रहेंगी। वहाँ के विज्ञानाचार्यों का जो यह प्रश्न है कि शक्ति का नियामक कौन है, जिसका बाहर ही वे उत्तर निकाल लेना चाहते हैं, आप द्रष्टा की तरह बिलकुल अलग रहकर—इसके लिये हम कहेंगे, जिस तरह यंत्र का आविष्कार बाहर से पहले भीतर होता है, उसी तरह यह नियामक भी भीतर ही प्राप्त होगा। जिस 'हम' ने यह सब आविष्कार किया, शक्ति का नियामक भी वही है। पाँच सौ बत्तियों की रोशनी और हजार बत्तियों की रोशनी आप नहीं पैदा हुई, यह शक्ति का भेद उसी 'हम' का किया हुआ है, जिसने ये बत्तियाँ बनाईं, और जिनसे शक्तियों में घटाव-बढ़ाव होता है—बाह्य रूप से, वे उस शक्ति-भेद के उपकरण हैं। यंत्रों से और जो कुछ भी निकलता हो, यंत्रकार का 'हम' नहीं निकल सकता। यंत्रकार के जिस 'हम' में तैयार करने की शक्ति है, उसके उसी 'हम' की भौतिक शक्ति यंत्र-शक्ति में काम कर रही है, क्योंकि 'हम' के पंचतत्त्वों से अलग कोई छठा तत्व यंत्र में नहीं लगा। इस 'हम' का आविष्कार और वैज्ञानिक प्रगतियों की नाड़ी बंद एक बात है। 'हम' मरे हुए मन में शून्य के सिवा कुछ नहीं; तब विज्ञान का आधार भी शून्य ही हुआ।

पृथ्वी शून्य, सूर्य शून्य, चंद्र शून्य, तारे शून्य, जल-कण शून्य, चिनगारी शून्य, हवा का आवर्त शून्य, अणु-परमाणु शून्य, स्वेद-अंड-पिंड शून्य, प्रकृति का प्रत्येक बीज शून्य ।

इस शून्य के आधार पर सृष्टि अपनी 'सृज' में ही वाँकपन या कला पैदा कर रही है । इसीलिये सृष्टि सब रूपों में देड़ी है । युग, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, दिन भिन्न-भिन्न अपना-अपना विशिष्ट सौंदर्य रखते हैं । प्रत्येक व्यक्ति की तिर्यक् दशा । यही कला और सौंदर्य है । जन्म और मृत्यु, उठना और गिरना, भला और बुरा सब जगह । बीच का यह अगणित भाँ अगणित कलाओं में पारपूर्ण हो रहा है । असंख्य भुज असंख्य वृत्तियों के रंग में असंख्य चित्र तैयार कर रहे हैं । यहाँ विश्व-साहित्य की सार्वभौम पूर्णता है ।

विकास के देखने या करने के अस्तित्व में शक्ति का ही अस्तित्व है । शास्त्रानुसार शून्य और शक्ति अभेद हैं । फर्क इतना ही है कि जब शून्य में स्थिति है, तब शक्ति का ज्ञान नहीं, क्योंकि 'वह नहीं काँपता' सिद्ध है, और जब शक्ति का परिचय है, तब शून्य का ज्ञान नहीं, क्योंकि 'वह काँपता है' सिद्ध है ।

कार्यकरी शक्ति किसी असंपूर्ण को पूर्ण करने के लिये होती है । दैनिक जीवन में भी हम यही तात्पर्य देखते हैं । ऐसा ही हाल एक बड़ी व्यापित का है । एक ही मनुष्य घर के भी कार्य करता है और देश तथा संसार के भी । यहाँ एक छोटी-

सी सीमा में मनुष्य की अणिमा और महिमा, गरिमा और लघिमा, सभी शक्तियों को अवकाश मिलता है, और वे अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। परंतु हैं वे अभेद। सिर्फ व्यक्ति-भेद की तरह उनके भी भेद हैं।

जिस तरह यह एक ही शक्ति व्यक्ति, देश तथा विश्व की शक्ति में सम्मिलित हो सकती है, उसी तरह उसके कार्य भी अलग-अलग संकुचित, प्रसरित, रूप, गुण तथा भाव पैदा करते हैं। हमारे साहित्य में इस शक्ति का व्यापक कार्य अभी नहीं के बराबर है। हमारा मतलब हमारे नवीन साहित्य से है। इस शिथिलता के भी कारण हैं, जो बलान् साहित्यिकों को अनेक भावनाओं से संकुचित कर देते हैं। पर शिथिलता से लड़ना ही सभ्य होना है।

यही शक्ति के विकास का एक रूप है, युग-धर्म। यह सदा युग के साथ संबद्ध रहा है। अनेक पुरानी बातें, पुरानी आदतें, पुरानी राहें, पुराने विचार-युग-धर्म के तक्राजे पर अपना रूप परिवर्तित करना चाहते हैं। साहित्य यही काम करता हुआ अपनी शक्ति के परिचय से जीवित कहा जाता है, अन्यथा मृत या पश्चात्पद। विश्वभावना न भी हो, यदि जातीय भावना को ही श्रेय दिया जाय, तो भी किसी व्यक्ति के लिये अपने ही समाज के दायरे में रहने की गुंजायश नहीं रहती। इससे उस व्यक्ति का साहित्य देश-व्यापी प्रसार प्राप्त नहीं कर सकता। पुरानी प्रचलित सभी

बातें एक वक्त नई और सुख-प्रद थीं, पर आज भी यदि उन्हीं की रक्षा के लिये सर पीटा गया, तो साहित्य में 'सृज' को स्थान नहीं मिल सकता और वह साहित्य-जीवन मृत है।

हम एक उदाहरण मूर्ति-पूजन का लेंगे। मूर्ति-पूजन के भीतर से हम भी वेदांत-सत्य साबित कर सकते हैं, औरों ने भी लिखा है, और मूर्ति-पूजन में वही है भी माननीय। यहाँ कहेंगे, वेदांत-सत्य पर आक्षेप किसी ने नहीं किया—हमारा मतलब शास्त्र से है, पर 'मूर्तिपूजाऽधमाऽधमा' यहीं की संस्कृति है। मूर्ति-पूजन और पुराण-प्रेम यदि यहाँ के धर्मात्माओं से ले लिया जाय, तो धर्म की कुल पूँजी गायब हो जाती है। और, इतनी ही बची हुई हिंदू-सभ्यता, धर्म-भाव, समाज-संस्कृति संसार के बड़े-बड़े भावों का मुक्ताबला करती हुई अपना अस्तित्व साहित्य में अमर कर रखेगी, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान् कहलानेवालों को शृंगवेरपुर और अहल्या के स्थान-निर्णय से अभी फुर्सत नहीं मिली।

आज का जड़-विद्वान् वर्तमान मूर्ति-पूजा के ज्ञान से कितना आगे बढ़ा हुआ है, इसके साबित करने की आवश्यकता नहीं। मूर्तियों की पूजा कर प्रसाद-स्वरूप एक भाई के सिर पर दोहत्था लड्डू धमकनेवाले मूर्ति-पूजन का कितना बड़ा तख्त जानते हैं, यह तो यहाँ रोज साबित हुआ करता है। दस पैसे के स्वार्थ में अशक्त एक सजीव मूर्ति की

जान लेने के लिये तैयार धनो मूर्ति-पूजकजी अपनी उस प्रकार की स्थिति में डटे हुए विश्व को हिला देंगे, ऐसे प्रसंग अपनी चौपाल की चारपाई पर ही लोग छोड़ा करें। बाहर हम लोगों को कुछ लज्जा लगती है। पुरुषों और स्त्रियों में देव और देवियाँ नहीं, पत्थरों में हैं। हेंतिस करोड़ देवताओं के देश में रहनेवाले बिद्वज्जन कुछ विचार कर लिखा करें। देवियाँ बनाई गईं, या वे पहले ही से देवियाँ हैं सजीव।

ज्ञान तथा व्यवहार (ज्ञान-जन्य कर्म) का अहाता जितना बड़ा होगा, व्यक्ति या जाति भी उतनी ही बड़ी होगी। मुसलमान लोग धर्म का बहुत बड़ा व्यावहारिक ज्ञान लेकर जीत सके थे, और शताब्दियों तक भारत की भेड़ें चराईं। मुसलमानों की तरह पश्चिम के लोग भी ज्ञान तथा कर्म, दोनों में प्रसरित हैं। हमें इस जड़-विज्ञान का अपने विस्तार से सामना करना है। ऐसे साहित्य की सृष्टि ही हमारा युग-धर्म है। वे तारों तथा वेतार के तार से काव्य-साहित्य-व्यवसाय आदि के द्वारा तमाम पृथ्वी को बाँधे हुए हैं, कोई भी देश, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध उनसे न हो। उनका अशरीर-शक्ति-प्रवाह एक देश से दूसरे देशों को अविराम बहता जा रहा है, भले ही उसका उद्देश्य मंद या निध हो, पर हमारे ठाकुरजी शो मंदिर के अहाते से बाहर भी नहीं निकल पाते, न हमारे ज्ञान से और न अपने कर्मों द्वारा। फिर हमारे पास वह

कौन-सी सूरत है, जिसे देखकर हम इससे सहयोग या प्रतियोग करें ? चौंके के अंदर क्रोध रहकर प्रतिरोध तो काफ़ी कर चुके । पर अशरीर बह तो छूकर ही बह रहा है । मन में सब तरह से समाया हुआ है ।

इसीलिये हम समाज तथा साहित्य में अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमंत्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सबमें व्यक्त, अपनी ही आँखों से विश्व को देखती हुई अपने ही भीतर उसे डाले हुए है ; पानी की तरह सहस्रों ज्ञान-धाराओं में बहती हुई, स्वतंत्र ; किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्ज्वल, अम्लान; मृत्यु की तरह नवीन जन्मदात्री, सर्वशाखाओं की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति में चिरकमनीय ।

साहित्य और भाषा

भाषा-विलासिता से संबंध रखनेवाले प्रश्न हिंदी की तरह अक्षर भाषाओं में नहीं उठते। हिंदी को राष्ट्र-भाषा माननेवाले या बनानेवाले लोग साल में तेरह बार आर्त चीत्कार करते हैं—भाषा सरल होनी चाहिए, जिससे आबाल-वृद्ध समझ सकें। मैंने आज तक किसी को यह कहते हुए नहीं सुना कि शिक्षा की भूमि विस्तृत होनी चाहिए, जिससे अनेक शब्दों का लोगों को ज्ञान हो, जनता क्रमशः ऊँचे सोपान पर चढ़े।

हिंदी की सरलता के संबंध में बकवास करनेवाले लोगों में अधिकांश को मैंने देखा—लिखते बहुत हैं, जानते बहुत थोड़ा हैं। कम-से-कम हिंदी से तो उनका तत्रल्लुक स्कूल से जब से छूटा, छूटा ही रहा। फिर हिंदी की विशेष शिक्षा प्राप्त करने की उन्हें जरूरत नहीं मालूम दी। जरूरत रही दूसरों को सिखलाने की। साधारण जनों का पक्ष लेकर वे बराबर अपने अज्ञान पर मिट्टी डालते रहे।

एक सवाल राष्ट्र-भाषा द्वारा हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का उठता है। इसके लिये भी हिंदी को भरसक असंस्कृत करने की जरूरत बतलाई जाती है, जैसे मुसलमानों में राष्ट्र-भाषा का सिक्का जम गया हो, और वे क्रमशः हिंदी-साहित्य के उदार

उद्देश में प्रवेश कर रहे हों। हिंदोस्तानी एकेडमी के पदवीधर पदाधिकारियों की ऐसी ही राय है। वे लोग स्वयं कुछ हिंदी जानते हैं या नहीं, यह मत पूछिए; इनकी जाँच व्यर्थ है। उनकी राय सुन लीजिए। ऐसी भावना से प्रेरित हो कुछ कवियों ने कलम के कुल्हाड़े से राष्ट्र-भाषा की लकड़ी से काव्य के कुछ चैले चोरे भी हैं, जिनके मुकाबले 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठति अप्रे' बहुत सरस है। कुछ हो, राष्ट्र-भाषा का वह काव्य सरल तो है, लोग आसानी से समझ लो लेते हैं।

यथार्थ साहित्य नेताओं के दिमाग के नपे-तुले विचारों की तरह, आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठों में बंद होकर नहीं निकलता। वह किसी उद्देश की पुष्टि के लिये नहीं आता, वह स्वयं सृष्टि है। इसीलिये उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं आता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का यथार्थ कल्याण हुआ है। जब कुछ खास आदमियों के कल्याण की बात सोची जायगी, तब कुछ खास आदमियों का अकल्याण भी साथ-साथ होगा। यह अनुल्लंघ्य दर्शन है। इसीलिये बृहत् साहित्य यानी ऊँचे भावों से भरा हुआ साहित्य कभी देश, काल या संख्या में नहीं रहा, और उसी से देश, काल और संख्या का अब तक यथार्थ कल्याण हुआ है। उन प्राचीन बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। सोलह आने में चार आने जनता के लायक रहना साहित्य का ही स्वभाव है। क्योंकि सब तरह की

अभिप्रेतियाँ साहित्य में होती हैं। तुलसी-कृत रामायण का हमारे यहाँ सब पुस्तकों से ज्यादा प्रचार है, दूसरी किताब समाप्त होने से पहले ही लड़कियाँ सुंदरकांड खोलकर “जामवंत के बचन सुहाए, सुनि हनुमान-हृदय अति भाए।” पढ़ने लगती हैं। इसके मानी यह नहीं कि तुलसीदासजी ने बड़ी सीधी भाषा में रामायण या अपने दूसरे ग्रंथ लिखे हैं। रामायण कहीं-कहीं, जहाँ जैसे कठिन भाव आए हैं, इतनी मुश्किल है कि अच्छे-अच्छे विद्वानों के छक्के छुट जाते हैं। इसके अलावा साद्यंत रामायण सालंकार है। यह सब साधारण लोग समझ सकते हैं, यह किसी साहित्यिक नेता के सिवा यथार्थ अनुभवी विद्वान् कभी न कहेगा। रामायण के प्रचार का कारण रामचरित है, जिसका हजारों वर्ष पहले से अनेकानेक रामायणों तथा कथाओं द्वारा प्रचार होता आया है। संस्कार यहाँ के लोगों के ऐसे ही बन गए हैं। क्लिष्टता के बारे में यही हाल सूरदासजी की कविता का भी है। वे भी कम मुश्किल नहीं। अलंकारों के सिवा एक क्रदम नहीं उठाते।—

“श्रवभुत एक अनूपम बाग।

युगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग।”

यह सब साधारण जनो की समझ में आने लायक काव्य नहीं। कबीर तो अपनी विशेषता में और मुश्किल हैं। पंडित न होते हुए भी अलंकार लिखते हैं। केशव अपनी क्लिष्टता

के लिये काफ़ी बदनाम हैं। ये चार हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। विहारो की ठेठ देहाती बग़ैर टीका देखे मैं अब भी नहीं समझ पाता। उर्दू के ग़ालिब मुश्किल लिखने के लिये काफ़ी बदनाम थे। पर वही उसके सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। शेक्स-पियर के गीतों के भाव गहन, भाषा तदनुकूल है। शेली की भाषा और भी लच्छेदार। रवींद्रनाथ भी इसके लिये कम बदनाम नहीं थे। वह मुश्किल-आसान दोनों तरह की भाषा लिखते हैं, पर भाव साधारण जन नहीं समझ सकते। एक बार 'चरका' प्रबंध में उन्होंने महात्माजी पर जो आक्षेप किया था, उसकी दिल्ली तथा पेंचीदे भाव पर महात्माजी ने अपने लोगों को समेटकर समझाया था कि तुम लोग उसका अर्थ कुछ-का-कुछ समझ लोगे। अर्थात् महात्माजी के लोग इतने पुष्ट विचारों के हैं। फिर नेतृत्व का एक संस्कार भी होता है, जो चेतन को जड़ और समझदार को मूर्ख मानता है।

अस्तु। बड़े-बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन भावों को व्यक्त करने में प्रायः भाषा भी कठिन हो गई है। जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गंभीरता तक पैठ सकता है, और पैठता है। साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए। भाषा भावों की अनुगामिनी है।

जनता को तरह-तरह की अहितकर अनुकूल सीख न देकर कुछ परिश्रम करने के लिये ही कहना ठीक होगा। जिनको

संधि-समास का भी ज्ञान नहीं, ऊँचे साहित्य की सृष्टि उनके लिये नहीं, न "Words, in one syllable" असमस्त शब्दों की किताबें लिखने से राष्ट्र-भाषा का उद्धार हुआ जाता है।

जो लोग समय को देखते हुए अपनी पुस्तकों या पत्रों के प्रचार के लिये उनमें साधारण भाषा और सरल भावों के रखने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसा व्यवसाय की दृष्टि से करते हैं। यह हिंदी का हित न हुआ। हित तो गहन शिक्षा द्वारा ही होगा।

हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के लिये ललित शब्दावली की टाँग तोड़कर लँगड़ी कर देने से लड़खड़ाती हुई भाषा अपनी प्रगति में पीछे ही रहेगी। हमारा यह अभिप्राय भी नहीं कि भाषा मुश्किल लिखी जाय; नहीं, उसका प्रवाह भावों के अनुकूल ही रहना चाहिए। आप निकली हुई और गढ़ी हुई भाषा छिपती नहीं। भावानुसारिणी कुछ मुश्किल होने पर भी भाषा समझ में आ जाती है। उसके लिये कौष देखने की जरूरत नहीं होती। जिस तरह हिंदी के लिये कहा जाता है कि वह अधिकसंख्यक लोगों की भाषा है, उसी तरह यदि अधिक संख्या उसकी योग्यता को भी मिलेगी, तो योग्यतम की विजय में फिर कोई असंभाव्यता न रह जायगी। इसके लिये भी भाषा-साहित्य में अधिकाधिक प्रसार की आवश्यकता है। जो लोग साधारण भाषा के प्रेमी हैं, उनके लिये साधारण पुस्तकें रहेंगी ही। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तकों की तरह भाषा-साहित्य का भी स्तर तैयार रहेगा।

प्रायः यह शिकायत होती है कि छायावादी कविताएँ समझ में नहीं आतीं; उनके लिखनेवाले भी नहीं समझते, न समझा पाते हैं। इस तरह के आक्षेप हिंदी के उत्तरदायी लेखक तथा संपादकगण किया करते हैं। कमजोरी यहीं पर है। हिंदी में बहुत-से लोग ऐसे भी हैं, जो छायावादी कविताएँ समझते हैं। उन्होंने समर्थन भी किया है। मैं अपनी तरफ से इतना ही कहूँगा कि छायावाद की कविताएँ भाषा-साहित्य के विकास के विचार से अधिक विकसित रूप हैं। जहाँ-जहाँ उन कविताओं में खूबी आ गई है, वहाँ-वहाँ बहुत अच्छी तरह यह प्रमाण मिल जाता है। जिन स्थानों में धुँधलापन है, भावों का अच्छा प्रकाशन नहीं हुआ, चित्र चमकते हुए नहीं नजर आते, वहाँ सामयिक दुर्बलता है, जिससे आगे बढ़ने की साहित्य तथा साहित्यिकों को जरूरत है। जो लोग यह कहते हैं कि खड़ी बोली की कुछ प्राचीन काल की कृतियों की तुलना में आधुनिक कविताएँ (मेरा मतलब दोनों समय की अच्छी कविताओं से है) नहीं ठहरतीं, मैं उन्हें अत्युक्ति करते हुए समझता हूँ। मुझे दृढ़ विश्वास है, यह मेरी नहीं, उन्हीं की अल्पज्ञता है। वे साहित्य के साथ अन्याय करते हैं।

शैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीका भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है। ब्रज-भाषा भाषा-साहित्य के विचार से बड़ी मधुर भाषा है। उसके शब्द दृढ़ते

हृष्ट हतने मुलायम हो गए हैं, जिससे अधिक कोमलता आ नहीं सकती। ब्रज-भाषा का प्रभाव तमाम आर्यावर्त तथा दक्षिणात्य तक रहा है। सभी प्रदेशों के लोग उसकी मधुरता के क्रायल थे। बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में उसकी छाप मिलती है। ब्रज-भाषा-साहित्य के अंग के अपर प्रांतवाले लोग भी अपनी भाषा को ब्रज-भाषा की तरह, उसी तूलिका से, मधु-सिक्त कर देते हैं। यही साधना वर्तमान खड़ी बोली के लिये जरूरी है। पहले के अनेक मुसलमान-कवि ब्रज-भाषा के रंग में रँग गए थे। उनके पद्य हिंदू-कवियों के पद्यों से अधिक मधुर हो रहे हैं। यही स्वाभाविक खिंचाव खड़ी बोली की कोमलता तथा व्यापकता में आना चाहिए। अच्छे की अधिकांश लोग अच्छा कहते हैं। यों तूल-तकरारवाली बातें तो हैं ही, और होती ही रहेंगी, प्रचार का इससे अच्छा उपाय आज तक संसार में दूसरा नहीं हुआ। जितने भी धर्म प्रचारित किए गए, सब अपनी व्यापकता तथा सहृदयता के बल पर फैले। उनकी साधारण युक्तियाँ मृदुल, जल्द समझ में आनेवाली, आलोचनाएँ तथा अपर सम्य अंग वैसे ही गहन, अगाध विद्वत्ता से भरे हुए। हिंदी के लिये एक तरह की आवाज उठाने से अच्छा अनेक तरह का प्रदर्शन है, क्योंकि इससे कुछ प्राप्त होता है।

मुसलमान और हिंदू-कवियों में

विचार-साम्य

सभ्यता के आदि-काल से लेकर आज तक जितनी बड़ी-बड़ी बातें साहित्य के पृष्ठों में लिखी हुई मिलती हैं, उनके बाह्य रूपों में साम्य न रहने पर भी वे एक ही सत्य का प्रकाश देती हैं। आज तक मानवीय सभ्यता जहाँ कहीं एक दूसरी सभ्यता से टकर लेती आई है, वहाँ उसके बाह्य रूपों में ही वैषम्य रहा है, वेश-भूषणों, आचार-व्यवहारों तथा उच्चारण और भाषाओं का ही बहिरंग भेद रहा है। उन सभ्यताओं के विकसित रूप देखिए, तो एक ही सत्य की अटल अपार महिमा वहाँ मिलती है। थोड़ी देर के लिये, उदाहरणार्थ, हम मुसलमानों को ले सकते हैं। मुसलमानों से हिंदुओं की लड़ाई शताब्दियों तक होती रही। आज भी यदि भारतवर्ष के स्वतंत्र होने में कहीं किसी को कोई अड़चन मिलती है, तो वह हिंदू-मुसलमानों का वैषम्य ही कहा जाता है। जगह-जगह, मौक्रे-वेमौक्रे, आज भी दोनों एक दूसरे की जान ले लेने को तैयार हो जाते हैं। बहुत कम हिंदू और बहुत कम मुसलमान ऐसे होंगे, जो इनमें से एक दूसरे के उत्कर्ष का पूरा-पूरा पता रखते हों। मुसलमानों के आक्रमण के समय

से लेकर आज तक दोनों जातियों में जो घृणा के भाव चले आ रहे हैं, वे दोनों जातियों की अस्थि-मज्जा में कुछ इस तरह से मिल गए हैं कि सुप्त रहते हुए भी वे जाग्रत् ही रहते हैं। हिंदू लोग, आचारों को प्रधानता देते हुए, खुदा-परस्त मुसलमानों को भ्लेच्छ आदि नामों से विभूषित करते हैं। उसी तरह मुसलमान भी हिंदुओं को मूर्ति-पूजक देखकर उन्हें बुत-परस्त, काफिर आदि घृणा-सूचक शब्दों से याद करते हैं। सदियों से यह व्यवहार कुछ ऐसा चला आ रहा है कि दोनों के विचारों में जहाँ साम्य है, वहाँ तक पहुँचकर दोनों में मैत्री-स्थापना की कोई चेष्टा ही नहीं की गई। जिन हिंदुओं को 'आचारः प्रथमो धर्मः' सिखलाया जाता है, और यह इसलिये कि आचारों से चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान या सत्य की प्रतिष्ठा मन में हो सकेगी, वे हिंदू आचारों में इस बुरी तरह बँध जाते हैं कि वे आचार ही उनकी आध्यात्मिक उन्नति के अंतिम लक्ष्य-से बने रहते हैं, यद्यपि 'अघोरान्नापरो मंत्रः' का वे प्रतिदिन पाठ किया करते हैं। इधर मुसलमानों को बुत ही से खुदा का पाठ मिला; पर वे बुत को घृणा ही करते गए; केवल काव्य में ही रह गया।

“परिस्तिश की यौ तक कि ऐ बुत, तुम्हे—

नज़र में सभी की खुदा कर चले।”—

किंतु बुतों के प्रति ये भाव उनके नहीं रह गए, यद्यपि बुत-रूपी अपने बीबी-बच्चों को सभी मुसलमान प्यार करते हैं।

आज, अब, विज्ञान के युग में, जिस तरह पश्चिम की रोशनी से अपने गृह का अधिकार दूर करने के लिये राष्ट्रवादी हिंदू प्रयत्नशील हैं, उसी तरह मुसलमान भी। परंतु स्वार्थ एक अजोब सत्ता है। यहाँ प्राणों का भरा हुआ आनंद बिलकुल ही नहीं, सिर्फ एक अभाव की आग भड़कती है। देश दीन है, दुःखी है, परतंत्र है, स्वाधिकार-रहित है, इस तरह की अभाववाली जितनी भी बातें होंगी, वे जिस तरह प्राण-हीन हैं, उनकी पूर्ति के लिये लड़ाइयाँ, उद्योग आदि भी उसी तरह प्राण-हीन। कारण, स्वार्थ ही दोनों का मूल है। यदि ब्रिटेन के चीर सिंह हैं और भारत के दीन कृषक मेघ, तो विचार की दृष्टि में, दार्शनिक की भाषा में, दोनों मनुष्यता से गिरे हुए हैं, और आधुनिक विकासवाद के अनुसार सिंह और मेघ में कौन-सी सृष्टि अधिक उच्च है, यह बतलाना भी जरा टेढ़ी खीर है। मतलब यह कि जिस विज्ञान के बल पर पश्चिम सिंह बन सकता है, वह जिस तरह मनुष्यता की हद से गिरा हुआ होता है, उसी तरह हिंदुओं का ज्ञान-मूल-रहित आचारवाद, जिसने सदियों से उन्हें गुलाम बना रखा है, और मुसलमानों की खुदापरस्ती भी, जो बुतों से धिरी हुई रहकर भी उनकी सत्ता से घृणा करें।

हिंदू और मुसलमान, दोनों जातियाँ ऊँची भूमि पर एक ही बात कहती हैं। इस लेख में हम यही दिखलाने की चेष्टा

करेंगे। साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि जब तक हिंदू और मुसलमान इस भूमि पर चढ़कर मैत्री की आबाध नहीं लगावेंगे, तब तक वह स्वार्थ-जन्य मैत्री स्वार्थ में धक्का न लगाने तक की ही मैत्री रहेगी—वैसी ही मैत्री, जैसी जिटिश-सिंह और भारत-गऊ की हो सकती है।

“न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता ;
 डुबाया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता।”

(गालिब)

जब कुछ नहीं था, तब खुदा था। यदि कुछ न होता, तो खुदा होता। मुझे होने ने (भव ने, संसार ने, 'हूँ' इस भाव ने) डुबा दिया। मैं न होता, तो क्या (अच्छा) होता।

महाकवि गालिब के ये भाव हर्फ-हर्फ वेदांत से मिलते हैं। जब कुछ नहीं था, तब खुदा था, यही वेदांत की तथा हिंदू आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की दुनियाद है। जहाँ ईश्वर की सत्ता है, वहाँ संसार नहीं। इसी पर गोत्वामीजी लिखते हैं—

“जिहि जाने जग जाय हेराई ।”

यहाँ दोनों के भाव एक ही हैं। 'होने' ने या 'भव' ने गालिब को डुबा दिया है अर्थात् दुनिया के ज्ञान ने उन्हें समीम कर दिया है, संसार में डाल रक्खा है, जिसके लिये वह कहते हैं, यह न होता तो क्या अच्छा होता ! तब केवल खुदा का ही अस्तित्व रहता, जिसके लिये तब कहा है—

“None else exists and thou art that.”

कबीर भी कहते हैं, जहाँ ज्ञान रहता है, वहाँ मोह नहीं रहता—

“सूर-परकास तहँ रैन कहुँ पाइए
रैन-परकास नहिँ सूर भासै ;
होय अज्ञान तहँ ज्ञान कहुँ पाइए
होय जहँ ज्ञान अज्ञान नासै ।
काम बलवान तहँ प्रेम कहुँ पाइए,
होय जहँ प्रेम तहँ काम नाहीं ;
कहत कबीर यह सत्य सुबिचार है
समस्त तू, खोच तू, मनहिँ माहीं ।”

आज तक मनुष्यों के मनो ने जितनी ऊँची उड़ानें भरी हैं, वे सब यहीं आकर ठहरती हैं। अन्यथा लक्ष्य-भ्रष्ट हो गई हैं। सांसारिक जितने भी चमत्कार हैं, उन सब पर प्रभुता करनेवाली यही भूमि है, और संसार में जितने भी भेद हैं, उन सबमें साम्य स्थापित करनेवाली भी यही भूमि है। विना यहाँ आए हुए भेद का ज्ञान कदापि दूर नहीं हो सकता। यही हिंदुओं की अद्वैत-भूमि है। और, चूँकि यहाँ भेद-भाव नहीं रह जाता, इसीलिये इसे अद्वैत कहा भी है।

नज़ीर कहते हैं—

“तनहा न उसे अपने दिजे संग में पहचान,
हर बाग़ में, हर दरत में, हर संग में पहचान ।

बेरंग में, बारंग में, नैरंग में पहचान ;
 मंजिल में, मुक्रामात में, क्ररसंग में पहचान ।
 नित रुम में, औ हिंदू में, औ जंग में पहचान ;
 हर राह में, हर साथ में, हर संग में पहचान ।

X X X

हर धान में, हर बात में, हर डंग में पहचान ;

आशिक है, तो दिलबर को हर रंग में पहचान ।”

यहाँ दुनिया की लाचरयमयी श्री भी है और वहाँ उस
 प्यारे की खोज भी । यह यहाँ विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है ।
 यानी दुनिया भी है और खुदा भी । या यों कहिए कि वह
 खुदा ही दुनिया के अनेक रूपों में विराजमान है । गो०
 तुलसीदासजी की एक उक्ति इसी अर्थ पर बहुत ही सुंदर
 हुई है—

“अव्यक्तमेकमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने ;

षट कंध, शाखा पंचविश, अनेक पर्या, सुमन घने ।

फल युगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जिहि आश्रित रहे ,

पल्लवित, फूलित, नवल जित संसार-विटप नमामि हे ।”

यहाँ राम को ही उन्होंने वेद के मुख से संसार-विटप
 कहकर संबोधित किया है, जिसकी तारीफ में संसार की कोई
 वस्तु छोड़ी भी नहीं, जैसे तमाम संसार में राम ही का रूप
 भर रहा हो ।

एक जगह महाकवि रासिक कहते हैं—

“तेरे सने” कामत से एक कद्वे आदम,
 क्रयामत के कितने को कम देखते हैं।”

यहाँ महाकवि गालिब क्रयामत को एक आदमी-भर लंबी बतलाते हैं, यानी क्रयामत उतनी ही बड़ी है, जितना लंबा एक आदमी। यह प्रलय की सर्वोत्तम व्याख्या है। हर एक आदमी में प्रलय की नाशकारी कल शक्तियाँ हैं, और वह चाहे, तो उन्हें प्रत्यक्ष कर सकता है। हर मनुष्य सौर-ब्रह्मांड से मिला हुआ भी उससे अलग है। संसार का अस्तित्व उसके पास सिर्फ इसलिये है कि वह अपने अस्तित्व पर विश्वास रखता है। जब मनुष्य सो जाता है, उस समय वह अपना अस्तित्व बहुत कुछ भूल जाता है। यही कारण है कि सुप्ति-काल में संसार का ज्ञान नहीं रहता। संसार के सिर पर जो क्रयामत क्रीड़ा कर रही है, इसको प्रत्यक्ष करनेवाला वही है, और उसका शरीर भी क्रयामत के क्लान्त्न के अंदर है। इसलिये क्रयामत को एक ही आदमी के कद के बराबर कहा, और यह केवल साहित्यिक उपमा ही नहीं, किंतु दार्शनिक महान् सत्य हो गया है।

बिलकूल यही भाव सूरदासजी के हैं, जहाँ उन्होंने बालक कृष्ण की वर्णना की है—“प्रभु पौढ़े पालने पलोदत” आदि-आदि। यहाँ भी श्रीकृष्ण के हिलने-डुलने से जो क्रिया होती है, वह प्रलय ही है—“विडरि चले घन प्रलय जानि के;” कारण, किसी भी चेतन के हिलने से सौर-ब्रह्मांड

हिलता-डोलता है, यह सूरदासजी के कहने का मतलब है। श्रीकृष्ण की चेतन-क्रिया में संसार डोल रहा है, कहीं-कहीं प्रलय हो रहा है, दिग्दंती बड़े धैर्य से धरा-भार को धारण कर रहे हैं। यहाँ भी एक ही की चेतन-क्रिया से संसार में क्रयामत आ रही है, प्रलय मचा हुआ है, और इसे समझनेवाले सूरदासजी "सकट पगु पेजत"— धीरे-धीरे चल रहे हैं। गालिब और सूरदास की उक्तियाँ बिलकुल मिल जाती हैं। कोई विरोध नहीं देख पड़ता। वहाँ भी एक ही क्रम के बराबर क्रयामत की नाप होती है, और यहाँ भी एक ही कृष्ण की चेतन-क्रिया से आकत उठी हुई है। दोनो महाकवि इस सत्योक्ति में पूर्णतया सहमत हैं।

“कुछ जुलूम नहीं, कुछ ज़ोर नहीं,

कुछ दाद नहीं, करियाद नहीं ;

कुछ क़ैद नहीं, कुछ बंद नहीं,

कुछ ज़ब नहीं, आज़ाद नहीं ।

शागिद नहीं, उस्ताद नहीं,

वीरान नहीं, आबाद नहीं;

हैं जितनी बातें दुनिया की,

सब भूल गए, कुछ याद नहीं ।

हर आन हँसी, हर आन खुशी,

हर चक्र अमीरी है बाबा ;

जब आशिक़ मस्त फ़कीर हुए,

फिर क्या दिलगिरी है बाबा !
 जिस सिलत नज़र कर देखे हैं,
 उस दिलबर की फुलवारी है;
 कहें सज्जी की हरियाली है,
 कहें फूलों की गुलकारी है ।
 दिन-रात भगन झुश बैठे हैं,
 और आस उसी की भारी है,
 बस, आप ही वह दातारी है,
 और आप ही वह भंडारी है ।
 हर आन हैंसी, हर आन झुशी,
 हर वक्र अभीरी है बाबा ;
 जब आशिक मस्त क़क़ीर हुए,
 फिर क्या दिलगिरी है बाबा !
 हम चाकर जिसके हुस्न के हैं,
 वह दिलबर सबसे आला है;
 उसने ही हमको जी बरूशा,
 उसने ही हमको पाला है ।
 दिल अपना भोला-भाला है,
 औ' इरक़ बदा मतवाला है;
 क्या कहिए और नज़ीर आगे,
 अब कौन समझनेवाला है ।
 हर आन हैंसी, हर आन झुशी,

हर वक्र, अमीरी है बाबा ;
जब आशिक मस्त फकीर हुए,
तब क्या दिल्लीरी है बाबा ।”

(नज़ीर)

कविवर नज़ीर यहाँ फकीरी का हाल बयान कर रहे हैं। यह वह फकीरी है, जब तमाम दुनिया में अपना इष्ट-ही-इष्ट नज़र आता है। संसार की हर वस्तु में उसी का रँग चढ़ा देख पड़ता है। प्रह्लाद के चरित्र-लेखक दिखलाते हैं कि शेर आता है, तो उससे भी प्रह्लाद “हरि आए” कहकर लिपट जाते हैं। नरसीजी भूत देखते हैं, तो “आए मेरे लंब-कनाथ” कहकर गाने और प्रेम-विह्वल होकर नाचने लगते हैं। एक सिद्ध श्वान पर बैठा हुआ भोजन कर रहा था, और कभी-कभी अपना अन्न उस कुत्ते को भी खिला दिया करता था। दूर से कुछ लोगों ने यह तमाशा देखा। उसके पास गए। कहने लगे—“तुम कुत्ते की जूठन खाते हो, कैसे आदमी हो ?” वह सिद्ध बड़ी देर तक चुप रहा। तब भी इन लोगों ने अपना व्याख्यान बंद नहीं किया। तब चिढ़कर वह सिद्ध कहता है—

“विष्णुपरिस्थितो विष्णुः विष्णुं खादति विष्णवे ;
कथं हससि रे विष्णो सर्वं विष्णुमर्थं जगत् ।”

सूरदासजी इन्हीं भावों पर कहते हैं—

“जित देखो तित श्याममयी है;
 श्याम कुंज, वन, यमुना श्यामा,
 श्याम गगन-घन-घटा छई है ।
 श्रुति को अन्तर श्याम देखित,
 दीप-शिखा पर श्यामतई है ;
 मैं बीरी की लोगन ही की
 श्याम पुतरिया बदल गई है ।
 इंद-धनुष को रंग श्याम है,
 मृग-मद श्याम, काय विजयी है ;
 नीलकंठ को कंठ श्याम है,
 मनो श्यामता बेलि बई है ।”

कवि के भाव-नेत्र चारो तरफ श्याम को ही प्रत्यक्ष करते हैं । तमाम संसार में बड़ एक ही श्याम-छवि रमी हुई है । रामायण में गोधामी तुलसीदासजी इस भाव की सुंदर व्याख्या-सी कर देते हैं । जिस कारण से यह इष्ट-मूर्ति भक्त को चारो ओर दिखलाई पड़ती है, उस कारण को जड़ चित्त में है, जहाँ इष्ट की छाप पड़ जाने पर फिर और कोई रूप नहीं देख पड़ता, दूसरे रूपों की सत्ता छिप जाती है ।

“चित्रकूट चित चारु, तुलसी सुभग सनेह वन ;
 सिय-रघुबीर-बिहारु, सींचत माली नयन-जल ।”

मृत्यु को नश्वरता को दिखलाते हुए कविवर नज़ोर कहते हैं—

'जब चलते-चलते रस्ते में
 यह गौन तेरी ढल जावेगी;
 यह बधिया तेरी मिट्टी पर
 फिर घास न चरने पावेगी ।
 यह खेप जो तूने लादी है,
 सब हिस्सों में बट जावेगी;
 धी, पूत, जसाई, बेटा क्या,
 बनजारन पास न आवेगी ।
 सब ठाट पड़ा रह जावेगा
 जब लाद चलेगा बंजारा ।
 क्या जी पर बोझ उठाता है,
 इन गोनो भारी-भारी के ;
 जब मौत का डेरा आन पड़ा,
 तब दोनो हैं व्यापारी के ।
 क्या साज जड़ाऊ ज़र-ज़ेवर,
 क्या गोटे थान किनारी के ;
 क्या घोड़े, ज़ीन सुनहरी के,
 क्या हाथी लाल अमारी के ।
 सब ठाट पड़ा रह जावेगा
 जब लाद चलेगा बंजारा ।
 मग़रूर न हो तलवारों पर,
 मत भूल भरोसे दावों के;

सब पट्टा तोड़ के भागेंगे
 मुँह देख अजल के भालों के ।
 क्या बिछे मोती-हीरों के,
 क्या हेर मज्जाने मालों के;
 क्या छकचे ताश मुशजर के,
 क्या तरते शाल-दुशालों के ।
 सब ठाट पड़ा रह जावेगा,
 जब लाद चलेगा बंजारा ।”

नश्वर संसार का जो चित्र यहाँ विवेक को जाग्रत करने के लिये नजीर साहब ने खींचा है, उसका प्रभाव हिंदू-कवियों पर पहले ही से बहुत ज़्यादा रहा । नश्वरता पर प्रायः यहाँ के सभी कवियों ने कविताएँ लिखी हैं । भगवान् शंकराचार्य आदि धर्म-प्रचारकों से लेकर आधुनिक कवियों तक में यह भाव यहाँ परिपुष्ट ही मिलता है—

“कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः

का मे जननी को मे तातः ;

इति परिभावय सर्वमसारं

विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न-विवारम् ।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं

पुनरपि जननी - जठरे - शयनम् ;

इह संसारे खलु दुस्तारे

कृपया पारे पाहि मुरारे ।

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः

पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः;

पुनरप्ययनं पुनरपि वर्ष

सदपि न मुंचत्याशामर्षम् ॥”

(श्रीशंकराचार्यः)

“बढ़कर मेरे जीवन-रथ पर

प्रलय चल रहा अपने पथ पर ;

मैंने निज दुर्बल पद-बल पर

उससे हारी होइ लगाई ।”

(श्रीजयशंकर 'प्रसाय')

“लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर,

छोड़ रहे हैं जग के विचलत पक्षःस्थल पर;

शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूटकार भयंकर,

धुमा रहे नित घनाकार जगती का अंबर,

श्रुत्य तुम्हारा गरल-दंत, कंचुक कर्पांतर,

अखिल विश्व ही विवर,

वक्र-कंडल दिङ्-मंडल !

अये हुजैय विश्वजित !

नवाते शत सुरवर नरनाथ,

तुम्हारे इंद्रासन-तल माथ ।

धूमते शत-शत भाग्य अनाथ

सतत रथ के चक्रों के साथ ।

तुम । नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित,
 उत्पीड़ित संसृति को करते हो पदमर्दित;
 नग्न नगर कर भग्न भवन, प्रतिभाएँ खंडित,
 हर लेते हो विभन, कला-कौशल चिरसंचित ;
 आधि-ध्याधि बहुवृष्टि पात उत्पात अमंगल,
 वहि, बाढ़, भूकंप, तुम्हारे विपुल सैन्यदल ;
 अये निरंकुश पदाघात-से बसुधा टलमल,
 हिल-हिल उठता है प्रतिपल पद-दलित धरातल !”

(श्रीसुमित्रानंदन पंत)

नश्वरता को प्रत्यक्ष करा देने पर जरा देर के लिये मन में वैराग्य का उदय होता है। फिर वह वैराग्य यदि स्थायी हो, तो मनुष्य संसार की नश्वर वस्तुओं से प्रेम करना छोड़कर एक ऐसी ज्ञान-स्थिति प्राप्त करता है, जिससे उसे अथार्थ शांति मिलती है। जिस तरह हिंदुओं में वैराग्य की यह शिक्षा मिलती है, उसी तरह मुसलमानों में भी। सूफ़ी-वाद में तो ज्ञान, वैराग्य और मादकता, तीनों की प्रधानता है। मुसलमानों के दर्शन में तो नहीं; हाँ, कुरान के साथ अद्वैतवाद की सूक्तियाँ जरूर मिल जाती हैं। पर कविता में और सूफ़ियाने ढंग की कविता में यहाँ के बड़े-बड़े दर्शन-शास्त्र का तो बिलकुल जोड़ मिल जाता है। खान-पान और रहन-सहन का भेद रहने पर भी जिस विकास की ओर

मुसलमान-सभ्यता गई है, वह यहाँ से कोई पृथक् सत्ता नहीं। कुरान का असल तत्व जो

“ला इलाह इल्लिहाह”—

है, वह

“एकमेवाद्वितीयम्”

का अन्तर-अन्तर अनुवाद है। हम यह नहीं कहते कि कुरान की उक्ति अनुवाद के रूप में आई है; क्योंकि हमें भालूम है, ईश्वर को प्रत्यक्ष करनेवाले महापुरुष एक ही सत्य का प्रचार करते हैं। और, जिस तरह हिंदुओं के महापुरुषों ने श्रोत-प्रोत एक ही ज्ञानमय कोष का तत्व हासिल किया, उसी तरह मुहम्मद ने भी तपस्या द्वारा उस “अवाङ्मनसोऽगोचरम्” सत्य का साक्षात्कार किया। सिंधु और बिंदु की उक्ति से ब्रह्म और जीव की जो बातें भारतीय साहित्य में मिलती हैं, वही मुसलमान-कवियों की कविता में, दरिया और क्रतरे के रूप से, आई हैं।

तुमहिं मिलत नहिं होय भय, यथा सिंधुगत नीर ।”

(तुलसीदास)

“दृशते-क्रतरा है दरिया में क्रना हो जाना ।”

(शालिब)

“थक क्रतरप-में जब से साक्री ने पिबाया है ;

उस रोज से हर क्रतरा दरिया नजर आता है ।”

खुदनुमाई पर का गई वह गुफ्तगू याद आती है, जो अपनी

बाँदी के साथ शायद बेगम नूरजहाँ ने की थी, जब उसका चीनी आईना बाँदी के हाथ से गिरकर फूट गया था, और एकाएक महर्षि आल्मीकि की तरह बाँदी के मुँह से यह शेर का एक टुकड़ा निकल पड़ा था—

“अज्ञ क्रज्ञा आईबण-चीनी शिकरत ।”

“खूब शुद सामाने खुदबीनी शिकरत”—

यह मेहरुत्रिसा का उत्तर था। तमाम हिंदोस्तान की साम्राज्ञी के हृदय में भी वैराग्य की यह भावना प्रबल थी,—वह शिक्षा जो गोस्वामी तुलसीदास-जैसे महापुरुष ही दे सकते हैं—

“सेवहिं लखन सीथरघुवीरहिं ;

जिमि अविबेकी पुरुष शरीरहिं ।”

एक तरफ श्रीरामचंद्र की सेवा लक्ष्मण और सीताजो धर्म-भावना से प्रेरित होकर करते हैं, जैसे अपने परम इष्ट को सेवा की जाय, दूसरी तरफ महाकवि शिक्षा से भरी हुई उसकी उपमा में कहते हैं, जैसे अविबेकी पुरुष अपने शरीर की सेवा करते हैं—उसे किसी क्षण के लिये भी नश्वर नहीं समझते। यहाँ शरीर ज्ञान में बँधे हुए मनुष्य सदा ही नश्वरता के प्रास में पड़े रहते हैं, यह भावना भी उद्दीप्त होती है, और आलंकारिक व्यंजना श्रीरामचंद्र की तल्लीन सेवा का बोध भी अच्छी तरह करा देती है—एक ढेले में दो पक्षियों का शिकार हो गया है।

“तुम मेरे पास होते हो गोया,

जब कोई दूसरा नहीं होता।”

(गालिब)

यह बहुत ऊँचे दर्जे का प्यार है। सच्चा प्यार भी यही है। लोग इसका अर्थ यह भले ही करें कि निर्जन रहने पर ही प्रिय की याद आती है—दिल के आईने में उसकी सूरत देख पड़ती है ; पर इसका मतलब वह नहीं। यह सांसारिक प्रेम नहीं, यह ईश्वर-प्रेम है। जब मन विलकुल निरसंग हो जाता है, किसी भी दूसरे से लगावट नहीं रहती, तभी उस मन में ईश्वर का ध्यान आता है, वह भगवत्-संग प्राप्त करता है, वह मित्र जिसके लिये कहा है—“राम प्राण के जीवन जी के”— मिलता है, साथ रहता है ; इसी क्षण को इष्ट-प्राप्ति का समय कहते हैं, और इसी अवस्था में वह मिलता भी है। कविवर मैथिलीशरण कहते हैं—

“प्रभो, तुम्हें हम कब पाते हैं,

जब इस जनाकीर्ण जगती में एकाकी रह जाते हैं।”

जौक्रे एक शेर में परलोक, यहाँ तक कि अर्थ लगाने पर हिंदुओं के पितृलोक, देवलोक, प्रेतलोक आदि की सिद्धि भी हो जाती है—

“अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जाँगे ;

मर के भी चैन न पाया, तो किधर जाँगे।”

(जौक्रे)

मृत्यु के बाद चैन न पाने की उक्ति परोक्ष रीति से उसी प्रेतयोनि को सिद्ध कर रही है, जहाँ जीवों को शांति नहीं मिलती, एक प्रकार की जलन, द्रोभ, अशांति तथा चंचलता बनी रहती है। इसके अर्थ से प्रेतलोक की सिद्धि कोई भले ही न करे, पर इतना तो जाहिर ही है कि मृत्यु के बाद अशांति की चिंता कवि को लगी हुई है। वह इस पर विश्वास भी करता है। दूसरे, महाकवि शालिब को भी जौक का यह शेर पसंद आता है। इसके मानी ये हैं कि इस तत्त्व पर वह भी विश्वास करते हैं। बहिरत और दोजरत तो मुसलमानों के शास्त्र मानते ही हैं, जहाँ हिंदुओं का विलकुल साम्य है। यह बेचैनी की हालत, जो मृत्यु के बाद होती है, और उस मृत्यु के बाद जिसे आत्महत्या कहते हैं—“मर जाएंगे” के अर्थ से असमय मृत्यु या आत्महत्या का ही भाव व्यंजित है—बहुत कुछ उसी अवस्था की वर्णना है, जो प्रेतयोनि में होती है। यहाँ हिंदू और मुसलमान मृत्यु के बाद के एक ही विचार रखते हुए देख पड़ते हैं। यों तो प्रेत या जिन्न मुसलमानों के यहाँ भी कम नहीं—

“जिन्नों ने वहीं अपना मैखाना बना डाला।”—

और, रात बारह बजे शहर-भर की मिठाई खरीद लेनेवाले लखनऊ के जिन्न अब भी देहात में काफी मशहूर हैं, वे आज-कल की व्याख्या के अनुसार मुंह ढककर आनेवाले छप्पे पर बैठनेवालियों के यार और आशिक्र भले ही हों, अथवा चाहे

लाखनऊ की प्राचीन व्याख्या के अनुसार १२ लाख साफ करने के बाद रईसों के शोहदा-खाते में नाम लिखानेवाले हों।

हिंदी में तो—

“भूत-पिशाच निकट नहीं आवे ;

महावीर जब नाम सुनावे ।”

से लेकर

“साबर-मंत्र-जाल जिन सिरजा”, “प्रेत, पितर, गंधर्व ;

बदों किरार, रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ।”

तक, पता नहीं, इस परलोकवाद की कितनी चर्चा हुई है, और समाज में इस पर कितना दृढ़ विश्वास है—जब कि ज्ञान की जननी गीता स्वयं कहती है—“पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडो-दकक्रियाः” और केशवदास का प्रेत होना तमाम साहित्यिकों के दिमाग में भरा ही हुआ है, उधर गोधामो तुलसीदासजी की जीवनी से “बतै तहाँ इक प्रेत पुरानो” जब कि अभी तक नहीं निकाला गया, और उन्हें भगवान् श्रीरामचंद्र से मिलने का पता भी बताता है प्रेत !

“जहाँ में हाली किसी का अपने सिवा भरोसा न कीजिएगा ;

यह भेद है अपनी जिंदगी का कि इसका चर्चा न कीजिएगा ।”

हाली साहब जिस तरह यहाँ हरएक को अपनी ही सत्ता पर जोर देने के लिये कहते हैं, और इसे ही वह दुनिया में कामयाब होने की कुंजी समझते हैं, इसी तरह यहाँ के हिंदुओं की भी शिक्षा है। “नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, न मेधया न

‘बहुना श्रुतेन’ में सबसे कठिन कार्य आत्म-प्राप्ति के लिये जिस तरह मनुष्य को अभ्यंतर-बल प्राप्त करने के उपदेश दिए गए हैं, उसी तरह अन्य सफलताओं के लिये भी। यथार्थ बल अपने ही भीतर से प्राप्त होता है, जिससे कुल सिद्धियाँ हासिल होती हैं, यही यहाँ की शिक्षा है। इस प्रकार मन को प्रबल करने के लिये ही कहा है—

“मन के हारे हारिण, मन के जीते जीत ;

परब्रह्म को पाह्य, मन ही की परतीत।”

यहाँ के साहित्य में अपनी ही आत्मा पर विश्वास रखने के केवल उपदेश ही नहीं, किंतु जीवनियाँ भी अनेक लिखी हुई हैं। इस कोटि में स्त्री और पुरुष, दोनों को बराबर जगह मिली है। पार्वती तपस्या में दृढ़निष्ठ हैं। वह महादेव को पति-रूप से प्राप्त करना चाहती हैं। उनकी तपस्या की परीक्षा करने, उनके मनोबल को तोलने के इरादे से ऋषि उनसे कहते हैं—

“तुम क्यों व्यर्थ ही शिव-जैसे एक पागल के पीछे पड़ी हो ? इससे तो अच्छा है कि विष्णु की कामना करो। वह सुंदर हैं, और सब तरह से महादेव से श्रेष्ठ हैं।” यह सुनकर पार्वती का उत्तर नम्र होकर भी दृढ़ होता है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहती हैं। कहती हैं—

“सत्य-सत्य शिव अशिव-घर, विष्णु सकल-गुण-धाम ;

जाको मन रम जाहि सँग, ताहि ताहि मन काम।”

उद्भव को अपने ज्ञान का गर्व है। श्रीकृष्ण उनका यह अहं-

कार तोड़ना चाहते हैं। साथ ही एक दूसरे मन का बल भी उन्हें दिखाना चाहते हैं। इस विचार से वह उद्धव को गोपियों के पास अखिल व्यापक निरंजन ब्रह्म का उपदेश करने के लिये भेजते हैं। उद्धव गोपियों के बीच में व्यापक ब्रह्म की कथा सुनाते हैं, और गोपियाँ बार-बार उनसे श्रीकृष्ण का कुशल तथा अन्यान्य संवाद पूछती हैं, बार-बार उद्धव को उनके विषय से अलग कर देती हैं। पर वह भी अपने ज्ञान-हठ पर अड़े रहते हैं। वह भी बार-बार वैशाम्य की वाणी के प्रभाव से उनका प्रेम-जन्य मोह दूर कर देना चाहते हैं। पर गोपियों का प्रेम शरीर-प्रेम नहीं था। उसमें कृष्ण की चेतन सत्ता थी, जिससे उनके हृदय का मोहान्कार दूर हो चुका था। वे प्रेम ही की वाणी में जो उत्तर देती हैं, उसका फिर प्रत्युत्तर उन्हें उद्धव से नहीं मिलता—

“ऊधो, मन न होहि दस-बीस।

एक रह्यो सो गयो स्याम सँग,

काह करब अज, ईस ?”

और “राधे-दृग-सलिल-प्रवाह भें कुनौ हो ऊधौ, रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावैगी” आदि सुनकर प्रेम के प्रभाव से उद्धव मौन ही रह जाते हैं। यह यहाँ का मानसिक बल है, अपना अटल विश्वास, जिससे अपने संपूर्ण कार्य सार्थक हो जाते हैं। यही अंगरेजों का Concentration power (एकाग्रता-शक्ति) है। “The real I is real He” अर्थात्

यथार्थ मैं और यथार्थ वह (ईश्वर) एक ही है, अतः अपने पर यथार्थ विश्वास और उस पर अकृत्रिम विश्वास एक ही है ।

“जन्म कोटि शत रगर हमारी ;

बरौं शंभु, न तु रहौं कुमारी ।”---

यह अपनी शक्ति पर विश्वास है, और

“नट-भरकट इव सबहिं नचावत ;

राम खगोष, वेद अस गावत ।”

यह ईश्वर पर किया गया विश्वास है । यहाँ ईश ही की शक्ति सफल-काम है ।

हिंदू और मुसलमानों के सामाजिक आचार-व्यवहार और वेश-भूषण आदि निस्संदेह एक दूसरे से नहीं मिलते, परंतु यह कोई बहुत बड़ा भेद नहीं । कारण, मनुष्य की जँच उसकी मनुष्यता और उसके उत्कर्ष से होती है, और वहाँ ये दोनो जातियाँ एक ही पथ की पथिक तथा एक ही लक्ष्य पर पहुँची हुई जान पड़ती हैं । हिंदू-सभ्यता बहुत पुरानी है और मुसलमान-सभ्यता हिंदुओं के मुकाबले बहुत आधुनिक । यह तो हम दावे के साथ कहेंगे कि जहाँ भी सभ्यता ने अपने उत्कर्ष के प्रति संसार को आकृष्ट करना चाहा है, जहाँ कहीं उसकी सुप्त अपार शक्ति जागृत हुई है, वहीं, किसी-न-किसी रूप में, प्रत्यक्ष या प्रकृति की अपर शक्तियों की तरह परोक्ष रीति से, हिंदू-सभ्यता के बीज संचालित हो गए हैं । आज

संसार में जितने भी धार्मिक विचार अपना आधिपत्य जमाए हुए हैं, वे सब हिंदुओं के किए हुए विचारों के अनुवाद-से प्रतीत होते हैं। हमारा विचार है कि यह हिंदुओं की ही मानसिक दुर्बलता है, जिसके कारण वे हर तरह से पराधीन हो रहे हैं। यदि वे अपने आपको पहचानें, तो उनके भीतर के भेद-भाव तो दूर हों ही, किंतु संसार में एक अद्भुत साम्य का प्रचार भी हो, जिसकी अब तक संसार के लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। जहाँ प्रतिद्वंद्विता के भाव प्रबल हैं, वहाँ मानवीय शक्ति भी नहीं, पशु-शक्ति काम करती है, चाहे कितने ही बड़े-बड़े शब्दों तथा वाक्यों की आवृत्ति वहाँ की जाय। मानवीय प्राथमिक शक्ति का विकास ही कार्य की शक्ति है। धर्म के अनुकूल चलकर शक्ति को विकसित करना, यही शास्त्रीय शिक्षा है। पर आज इसके प्रमाण बहुत ही कम रह गए हैं। पाशविक वृत्तियों की प्रबलता मानवीय वृत्ति को, जिसे वृत्ति कहते हैं, दबाए हुए है। युग-धर्म ही कुछ ऐसा बन रहा है कि प्रवृत्ति-मूलक बातें अत्यंत रुचिकर मालूम देती हैं, यद्यपि उनसे पतन के सिवा एक इंच भी उत्थान की गुंजाइश नहीं। यही कारण है कि समाज के विवेक की तुला टूट गई है। बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे, सब मनुष्य, सब संप्रदाय अंधानुसरण को ही सनातन-धर्म या अपना सच्चा मजहब समझ रहे हैं। उधर विज्ञान के प्रकाश ने वहाँ के मनुष्यों के हृदय से यह विश्वास ही दूर कर दिया है कि ईसा को भजोगे,

तो हबते वक्त पानी में आप ही जमीन बन जायगी। वहाँ वास्तिकता का राज्य है, यहाँ अंधानुकरण का। संसार की अशांति इस तरह कब दूर हो सकती है ? मोटर, रेल, तार, जहाज, मैक्सिम गन, एरोप्लेन, टारपेडो, जेन ऑफ् बार और तीस मील की चाँदमारी करनेवाली तोपें, बम, तरह-तरह की विषैली बारूदें, हजारहा मैशीनें, ये सब अभाव ही की आग भड़कानेवाले हैं ; इनसे कुछ मनुष्यता की प्राप्ति नहीं होती। योरोप में जो दो-चार सनीपी मनुष्यता के तत्व को समझकर उसका प्रचार तथा प्रसार करते हैं, उन्हें वहाँ की गवर्नमेंट से तिरस्कार ही मिलता रहता है। प्रभुता स्वयं अनिष्टकर है, इसलिये विभूतिपाद के आचार्यगण मनुष्यता के दायरे से सदा ही निकाले हुए रहे हैं। मनुष्यता किसी क्रीमत से नहीं मिलती। वह तो एक प्रकार की शिक्षा है, जिस पर अभ्यास टढ़ हो जाने पर मनुष्य मनुष्य कहलाता है। भारत की राष्ट्रोन्नति के लिये जो अनेक प्रकार को चर्चाएँ सुनने में आती हैं, उनसे प्रतीत होता है कि यहाँ लोगों को आँखों में योरोप का ही चरमा लगा हुआ होता है, और बे बेचारे भूठ बोलकर जिद्दगी की जिद्दगी पार कर देनेवाले भारतवर्ष के वकील-लोडर यह क्या जानें कि यहाँ की शिक्षा किस रंग की चिड़िया थी ? भारतवर्ष में जो सबसे बड़ी दुर्बलता है, वह शिक्षा की है। हिंदुओं और मुसलमानों में विरोध के भाव दूर करने के लिये चाहिए कि दोनों को दोनों के उत्कर्ष का पूर्ण रीति से ज्ञान कराया जाय।

परस्पर के सामाजिक व्यवहारों में दोनों शरीक हों, दोनों एक दूसरे की सभ्यता को पढ़ें और सीखें। फिर जिस तरह भाषा में मुसलमानों के चिह्न रह गए हैं, और उन्हें अपना कहते हुए अब किसी भी हिंदू को संकोच नहीं होता, उसी तरह मुसलमानों को भी आगे चलकर एक ही ज्ञान से प्रसूत समझकर अपने ही शरीर का एक अंग कहते हुए हिंदुओं को संकोच न होगा। इसके बिना, दृढ़ बंधुत्व के बिना, दोनों की गुलासी के पाश कट नहीं सकते, खासकर ऐसे समय जब कि फूट डालना शासन का प्रधान सूत्र है।

हिंदुओं की जो मानसिक स्थिति पहले थी, वह मुसलमानों के आक्रमण-काल तक नहीं थी। पंच-देवताओं की उपासना में पड़े हुए हिंदू द्वैतवादी हो रहे थे। यों तो भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति भगवान् बुद्ध से पहले ही बिगड़ गई थी। बुद्ध के आने के बाद कुछ सुधरी, और यही कारण है कि बुद्ध-काल में कला के विस्तार के साथ-ही-साथ भारत की शासन-श्रृंखला भी सुदृढ़ हो गई थी। भगवान् शंकर के आविर्भाव के पश्चात् भी भारतवर्ष की कुछ अच्छी अवस्था थी। पर देश सब तरह से मानसिक दुर्बल हो रहा था। वह शंकराचार्य द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद की धारणा करने में समर्थ नहीं रहा। उसे एक ऐसे धर्म की जरूरत पड़ी, जो सरस हो, और गृहस्थों के सामने त्याग का महान् आदर्श न रखे उन्हें कोई प्रेम तथा पूजा का मार्ग बतलावे। मनुष्यों के मन के अनुकूल धर्म

का भी उद्भव हो जाता है। भगवान् रामानुज ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इसमें ईश्वर और संसार, दोनों रहे। अद्वैत को सूक्ष्म ज्ञान-बोध नहीं रही। किंतु रस से भरा हुआ एक दूसरा ही प्रेम-धर्म लोगों के सामने आया। चूँकि साधारण मनुष्य जन्म से ही मूर्ति-प्रेमी हुआ करता है, और संसार के अस्तित्व पर विश्वास रखता है, इसलिये यह विशिष्टाद्वैतवाद उस समय के लोगों को बहुत पसंद आया। भारतवर्ष में आज भी अधिकांश मनुष्य इसी संप्रदाय की शाखा-प्रशाखाओं में शामिल हैं। परंतु मूर्ति स्वयं ससीम होती है, इसलिये उसके उपासक भी, ससीम होने के कारण, भाव तथा क्रिया की भूमि में छोटे ही होते गए। महाभारत के समय से लेकर कई बार महापुरुषों ने भारतवर्ष को गिरने से रोकने की चेष्टाएँ कीं; पर स्वाभाविक गति में कोई रुकावट हो नहीं सकती। जिस हद तक इस देश को गिरकर पहुँचना था, उस अवश्यंभावी परिणाम को कौन रोकता? वह गिरता ही गया। उधर दीन-इसलाम की नई रोशनी अद्वैतवाद से भरी हुई फैली। उसका वह नवीन वेग कोई भी देश नहीं रोक सका। भारत भी जिस मानसिक अवस्था को प्राप्त था, उसके लिये हारना स्वाभाविक ही था। वह हारा। किसी भी बृहत् तथा व्यापक वस्तु या धर्म से कोई भी ससीम वस्तु या धर्म हार जाता है। ससीम हो रहने के कारण भारत की शक्ति भी खंडशः हो रही थी। मुसलमानों की संगठित तलवारों की चोट से भारत का स्वाधीन दंभ चूर-चूर हो गया।

हिंदुओं के साथ मुसलमानों का यह प्रथम संबंध हुआ जेता और विजित के भावों से। वे शासन भी करने लगे। उस समय के संगठित मुट्ठी-भर मुसलमान किस तरह आतंक की तरह तयाम भारतवर्ष में फैल गए, यह पढ़कर आश्चर्य होता है। उनकी दक्षता, उनकी कार्य-पटुता के प्रभाव से राज-पूत-शक्ति ने भी उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जहाँ देखिए, जिस प्रांत में देखिए, मुसलमानों का ही शासनाधिकार हो गया। पठानों के बाद मुगल आए। ऐयाशी में पड़कर पठान दुर्बल हुए, और उसी ऐयाशी ने मुगल-बादशाहत को बरबाद कर दिया। खैर, मुसलमानों के वे भाव, जो पहले से हिंदुओं के प्रति थे, अब भी ज्यों-के-त्यों ही रह गए, और यह स्वाभाविक भी है। अभी उस दिन तक यह प्रचार किया जाता था कि एक मुसलमान ५० हिंदुओं के लिये काफी है। और, यह सब हिंदुओं की ही कमजोरी है। इस समय कुछ को छोड़कर प्रायः सभी हिंदू लुप्ततम सोमा में बँधे हुए हैं। यही कारण है कि देश शताब्दियों के लिये पिछड़ा हुआ नजर आ रहा है। मुसलमान भी अब वे मुसलमान नहीं रहे। एक प्रकार की कट्टरता मूर्खता से मिली हुई रह गई है। इन दोनों जातियों के सुधार के लिये मनुष्यता की शिक्षा आवश्यक है, जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा आदर-भाव धारण करें। तब तक योरप का वर्तमान धर्म अवश्य ही नष्ट होगा। वहाँ विज्ञान की चर्चा से जिस नास्तिकता का उदय

हुआ है, उससे सुफल के ही होने की संभावना है। चरम नास्तिकता और चरम आस्तिकता एक ही बात है। गून्ध को चाहे कुछ नहीं कह लीजिए या सब कुछ। वह पूर्ण भी है और कुछ भी नहीं। यही आस्तिक और नास्तिकवाद का रहस्य है। यही कपिल, बुद्ध और नास्तिक दर्शन कहते हैं और यही वेदांत, गीता और पातंजल आदि आस्तिक दर्शन। यही सबसे ऊंची भूमि है। यहीं हिंदू और मुसलमान परस्पर मिलते हैं। योरप के भौतिक विज्ञानवाद को और एक सीढ़ी चढ़ना है, बस। सब फ़ैसला यही प्रकृति कर देगी, जिसने इतना सब चमत्कार पैदा किया है। फिर ये सब “यथा पूर्वमकल्पयत्” ही रहेंगे। अन्यथा मनुष्य की जीवन-प्रगति रुकेगी। मशीन के पहिए जितना तेज चलते हैं, आदमी की चाल उतनी ही द्रुत बंद होती है। इस पर बहुत कुछ लिखा-पढ़ी हो चुकी है, और होती जा रही है। यही कारण है कि महात्माजी का चर्खावाद यहाँ की अंधेरा योरप के किसानों को अधिक पसंद आया है, और वे अपने जीवन को अन्नबख़्तोत्पादन के पश्चात् शुभचिंतन में लगाने का प्रयत्न भी कर रहे हैं। जब तक अनेक प्रकार के चिंतंडावाद भारतवर्ष में चक्कर काट रहे हैं, तब तक यदि हिंदू और मुसलमान अपनी-अपनी यथार्थ प्राचीन शिक्षा का प्राप्त कर दबाने या दबनेवाले अपर भावों को त्याग कर आपस में मैत्री स्थापित करके एक दूसरे के उत्कर्ष को समझने की चेष्टा करें, तो दोनों के लिये उन्नति का रुका हुआ रास्ता निस्संदेह खुल जायगा।

एक बात

हिंदी की हितैषणा की गाँठ में गठिए का असर उसके सेवकों के तर दिमाग के कारण बढ़ता ही जा रहा है। भारतीयता का ज्योतिर्मय अर्थ विश्व की तमाम विभूतियों को भाखर करता रहा, पर हिंदी के हित-चितकों के प्रस्तर-हृदय के भीतर, स्रोतस्वती ही के हृदय के रोड़े की तरह, आलोक-सिग्धता कुछ भी न पहुँचो। भारत के दृश्य-काव्य में उन्होंने पाषाण-सृष्टिका, सोना-चाँदी, हीरे-मोती और पेड़-पौधे ही देखे, जैसे बणिकों ने रत्नाकर से जड़-रत्न ही लिए, उसका अपार दर्शन न लिया, वह किस तरह लक्ष्मी और रंभा दोनो—विद्या और अविद्या, परा और अपरा, तृप्ति और तृष्णिका—का पिता है, वे न समझे। जो भावों और रत्नों की खान अदूर-दर्शन है, वह हिंदीवालों की दूरदर्शिता के फेर में अपनी नवीन चहल-पहल खोकर वृद्ध हो गया, वार्द्धक्य की जड़ता में जकड़कर सृष्टु के पल गिनने लगा, गृहस्थ के गृह की तरह, अर्थ के न रहने पर नवीन आच्छद के सौंदर्य और जीवन से रहित हो।

आकाश सभी पदार्थों या केवल अर्थों को रूप, रेखा, शब्द और अर्थ देता है, क्योंकि अवकाश के भीतर ही सांत

सृष्टिविष्ट भिलता है। आकाश नभ है, और प्रभा भी। गोद में सूर्य को लेकर प्रभा अपने नभपति की प्रतिष्ठा की परिचायिका। यह सब शब्दार्थ-सृष्टि यहाँ के समझनेवाले लोग ही सोभा और निःसीम में भारत हैं। इसीलिये वे असर है।

“बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे” के अनुसार नभ भास्वर में सप्ताश्रव बनकर स्वयं ही अनेक रंग है। जो विष संसार को दग्ध करनेवाला और आजकल के विचार से अन्धकार ही होगा, वह चरित्र-हीनता, रोग, शोक या कुछ भी हो, वह शिव के कंठ में राम-नाम है, नील-कंठ आकाश की नीलिमा का तत्त्व समझकर गरलाभरण बन गए हैं, इसीलिये नील-कंठ के नाम के द्वारा वह काव्य की दृष्टि से अत्यंत सुंदर हो रहे हैं, सकलक चंद्र की तरह, गौरी के कपोल-तिल के सदृश।

हमारे यहाँ की भाव-राशि अंगरेजी की ‘Put’ क्रिया की तरह है, जो अतीत और वर्तमान में एक रूप है। भविष्य की नवीनता की ‘Will’ से उसे दर्शन-मात्र के लिये विभूति अधिक मिलती है, पर ‘Will’ सर्वथा उसी पर अवलंबित है, अन्यथा अचलायत और ‘Put’ अपने निर्विकार चित्त से पूर्ववत् स्थितिशील। ‘Will’ अव्यय के अव्ययीभाव का ‘Put’ की व्यापकता के साथ जैसा सहयोग है, ऐसा ही नवीन के साथ प्राचीन का।

जल्द यहाँ के विश्वजनीन भावों के समझने की है। जो

भाव विश्व-भर के लिये हैं, वे विश्व-भर के लिये हुए हैं। इसलिये व्यक्तिगत छाप उनमें नहीं लग सकती। एक-एक शब्द इसका प्रमाण है। योरप ने बड़ा इतिहास-संग्रह किया है, पर I, you, he आदि कोष के शब्द किसके बनाए हुए हैं, इसका इतिहास नहीं मिलता। हमारे यहाँ इसका दर्शन-मात्र है। प्रत्येक शब्द अनादि है। अर्थात् तमाम विश्व उसको सृष्टि के लिये उत्तरदायी है, क्योंकि तमाम विश्व अनादि है।

एक शब्द के विकार के लिये भी तमाम संसार उत्तरदायी है। 'प्रसार'-शब्द जब 'पसार' बना, तब सब लोग इसके नियामक हैं। मुमकिन है, किसी एक ने लिखा हो, पर सबने या समष्टि ने समर्थन किया। यदि ऐसा न होता, तो 'पसार' का प्रचलन ही न हो पाता। इसलिये "मौनं सम्मतिलक्षणम्" के द्वारा 'पसार' के लिखनेवाले के साथ सभी लोगों ने सह-योग किया। अपरंच 'प्रसार' की र-फला समष्टि को खटकती थी। इस खटकने के बाद 'प्रसार' लिखा गया। इसलिये 'पसार' पहले ही लिखा जा चुका था, जैसे अर्जुन के मारने के पहले कृष्ण के 'मैं'ने सबको मार डाला था, क्योंकि कृष्ण का विशुद्ध, बोधमय 'मैं' था और कौरवों का अज्ञानमय। अज्ञान के तिमिर को बोधमय सूर्य ने नष्ट कर दिया था; रहा था भीतर केवल कृष्ण का 'मैं', जो विराट् के साथ अब भी संबद्ध है, और अज्ञान-जीर्णता को नाश में परिणत करता रहता है।

प्रश्न हो सकता है कि 'प्रसार' के साथ मुसलमानों या अँगरेजों या अपर जातियों का क्या संबंध है, जो लिखा गया कि प्रत्येक गति के साथ, प्रत्येक शिवर्तन के साथ तमाम संसार संयुक्त है। पहले तो पेट के साथ पीठ की तरह प्रत्येक गति का एक परोक्ष संबंध है; दूसरे, विश्व के जिस संघात के कारण 'प्रसार' की रफला को पद-च्युत होना पड़ा, वह विजातीय भावनाओं से ही हुआ है, नहीं तो 'प्रसार' प्रसार ही बना रहता, उसे 'प्रसार' बनने की नीवत ही न आती।

लड़ने के बाद शांति की इच्छा होती है, और शांति के बाद लड़ने की। इसी तरह संस्कृत की प्रौढ़ता को प्रहार मिला, जिसका कारण विश्व है, जिसके सामने उसने अपनी प्रौढ़ता प्रदर्शित की। जब अन्य वर्ण-संप्रदाय प्रौढ़ हो चले, तब संस्कृत को प्रहार मिलने लगा। वह बालपन में बदल गई, सुख-लालसा प्रधान हो गई, ओज खलने लगा, लालित्य की प्यास बढ़ चली, 'आर्य' 'आर्य्य' हो गए। यह होना इसी तरह विश्वजनीन है, और इसी तरह सब अपर भाव और रूप भी। यों भी एक जगह के साथ दूसरी जगह का अविच्छेद संबंध बना हुआ है।

यही यथार्थ भारतीयता है। विश्व-धर्म, मनुष्य-धर्म या ऐसा ही कुछ किसी भी विशेषण-विशेष्य से कहा जाय। यह मानव-धर्म का स्वातंत्र्य हमारे साहित्यिकों के मस्तिष्क में स्मृति तथा नीति की सीमा में पड़कर अपने मूल-कारण को

अमर-वेलि की तरह खो बैठा है। हमारे साहित्यिक इतना तो समझते हैं कि सचाई से स्वतंत्रता हासिल होगी। स्वर्णलता की ही तरह हमारी संस्कृति चमकीली है, परंतु वे यह छोड़ देते हैं कि उस स्वर्णलता का आश्रय अपावन भाड़ भी उसके साथ-साथ है। माता के उदर में, पिता के बाह्य शुक्र के साथ शरीर और मन को जिस तरह पुष्टि मिलती रहती है, कोई संबंध न रहने पर भी नाड़ियों के रक्त-संचार और हृदय की धड़कन तक में पूर्ण संबंध स्थापित है, पार्श्व-वर्तन में कोई असुविधा नहीं होती, और नारायण के जल-शयन का पूरा रूपक—सृष्टि के प्रारंभ-काल का—दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी तरह हमारी सभ्यता देश और काल से निरवच्छिन्न रहकर भी चिरविच्छिन्न है।

इसोलिये किसी एक के प्रति प्रतिहार और किसी दूसरे के प्रति प्यार लुद्र सीमा-धर्म हो सकता है, महान् मानव-धर्म नहीं। मन के कोलाहलमय महासमुद्र का समुत्सुक तरंगांग जो मानव अपने उद्गम को समझ लेता है, वह व्यष्टि में रहकर भी समष्टि और परिखा में परिधि पाकर भी पारावार है। देश को इन्हीं मानवों की आवश्यकता रही है, देश को इन्हीं मानवों ने कुछ दिया है। मन का स्वतंत्र रूप देह की सीमा को अतिक्रमण करता है, यहीं सीमा की लुद्रता साबित होती रहती है। हर आदमी परदेश में रहकर अपने घर की बात सोचता है, पर देह जड़ पाथेय के साथ ही पथ पूरा कर

पाएगी। अपनी भौतिक स्वतंत्रता के अर्जन के लिये स्वतंत्र मन से हम अपने ही घर में संबंध स्थापित कर उसके इंगितों को समझ सकते हैं। वहीं हमें सम्राज्ञी भारतीयता अपने कभी पराधीन न होने की शिक्षा देगी। वह सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति, सबसे बड़ी किताब है। सत्य उसी सरस्वती का धर्म-पुत्र है। सत्य स्वतंत्र माता का सदा स्वतंत्र बालक है। उस पर कोई नियंत्रण नहीं। उसके पास एक ही किताब है उसकी माता। वह लिखी किताब नहीं पढ़ता। जब पढ़ना चाहता है, तब माता डाँट देती है। समझा देती है। कहती है, बाहर तू भटक जायगा, सब मेरी लिखी हुई किताबें हैं, वहाँ न जा। सत्य नहीं जाता, इसीलिये वह जब चाहता है, माता के साथ मिलकर तदात्म हो जाता है।

मनुष्यों का यही सत्य आदर्श है, तभी वे भारत हैं। यहाँ से विकार के प्रति अश्रद्धा नहीं होती। कृष्ण यहीं महामनुष्य, शुकदेव के रास-रस-विहारी महापुरुष हैं।

रवीन्द्रनाथ हिंदोस्तानियों के गरीब डफली-राग का कवियाने ढंग से मजाक उड़ाते हुए “खचखचखचांकार” लिखकर अपनी श्री-संपन्नता का परिचय दे सकते हैं, पर वह “खचखचखचांकार” का संबंध जातीय स्वर मीरा, कबीर, सूर और तुलसी की पावन लड़ियों में कितनी निर्मल ज्ञान-धारा बहाता है, यह अगर वह समझते होते, तो अपने अर्थ के साथ काफ़ी वृद्ध होकर “कोंकरकों”वाले “बाउल के स्वर” पर अंत में गला

और कलम न फेरते रहते। शायद बँगला के कवि इस अपने गरीब-राग को बँगला को संपत्ति समझकर विश्व की संपत्ति समझते हैं, और पहली को हिंदोस्तानियों की समझकर कर्णा-कटु विश्व-विरहित! दूसरी बात यह कि जब गरीबों को छल या वैभव से शक्तिशाली मुग्ध करता है, तब वे मन-ही-मन कहते हैं कि अगर हम ऐसे होते, तो हम भी तुम्हें ऐसा कर सकते। इसकी ध्वनि कितनी गूढ़, तत्त्व के पदों के भीतर होती है! आप किसी को उसके विकास-पथ की सुविधा कर दीजिए, वह धारा जरूर बह चलेगी। जब वह अपने पर्वत-पिता के अतल-स्पर्श में रहती है, तब भी वह निकलने के लिये बार-बार प्रयत्न करती रहती है, और अदृश्य या अल्पदृश्य होने पर भी समुद्र से छोटी नहीं रहती, क्योंकि दृष्टि का सूक्ष्म सूत्र, सूर्य का ताप-तत्त्व या अज्ञान के पत्थर-हृदय के भीतर से शाप के भाप का उसके साथ सहयोग रहता ही है। जहाँ रवींद्रनाथ अपना व्यक्तित्व ब्रह्म-व्यक्तित्व के साथ एक करते हैं, वहाँ यही सब जातीयता, भिन्नता, संकीर्णताएँ, जो उनके देह-संकोच के कारण निकली हैं, निकल-निकलकर दूसरों की तरफ इंगित करती हुई चली जाती हैं। तब पाठकों को कविवर के “कोथा भेसे जाइ दूरे” की याद आ जाती है।

रवींद्रनाथ ब्रह्म को जब सब संपत्ति दे देते हैं, तब सोचते हैं, अब हम निश्चित हुए; क्योंकि गरीबों की प्रार्थना का बोझ सर से उतर जाता है; तब कुछ मिजाज हल्का होता है, और

फिर रूप, रस, गंध, स्पर्शा में मुक्ति प्राप्त कर, संन्यासियों को निरा आदमी समझ, सत् और न्यास के अर्थ से कोई भी तत्रल्लुक न रख अपनी प्रतिभा के प्रहार से जर्जर करते रहते हैं ! जब ऐसे, सब राहों से गुजरकर ब्रह्म को प्राप्त करनेवाले, महाकवि को उनकी जमींदारी के लोग घेरकर कहते हैं—‘पिताजी, हम लोग तो ‘अघृतस्य पुत्राः’ हैं, भूखों मरते हैं, कुछ खाने को दो।” तब “कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः” के अर्थ में बराबर रवि बाबू कहते हैं, मैंने तो लिख दिया है—“यार यतो आछे, सेइ चाय भूरि-भूरि” (जिसके पास जितना है, वही उतना अधिक चाहता है) !!!

मैं कहता हूँ, हे देश, तुम धन्य हो, संन्यासी का अर्थ तुम्हीं समझे, तुम्हारा पुरस्कार वही अर्थ है । तुलसी विधर्मि (शब्दार्थ पर जोर) बादशाह (भ्रम बादशाह के भाव पर) के पास नहीं गए, राम के पास गए, जो पिता को मुक्ति के लिये बन गए, जिन्होंने पत्नी को मुक्ति के लिये राजस कुल का नाश किया, प्रजा-रंजन के लिये आसन्नप्रसवा प्रियतमा का परित्याग किया । रवींद्रनाथ संसार के एक महामनीषी, कदाचित् सबसे अधिक सम्मान-प्राप्त मनुष्य हैं । तुलसी महाकठिन होकर भी घर-घर अत्यंत सरल महाकवि हैं, रवींद्रनाथ सदा कोमल-कठिन, विद्वानों के आश्चर्य के विषय, उद्ग्रीय कर रखनेवाले महाकवि ।

महामनीषा जब किसी व्यक्ति-विशेष के भीतर जाग्रत् होती है, तब उसके अनेक कारण जागरण के उपादान के रूप उपस्थित

करते हैं। उन्हीं से सोमा अछोर असीम में स्थिति पाती है, और प्रकट शक्ति अप्रकट के बर्गा-गंध से हवा के हिल्लोलों पर काँपते हुए कल्पना के कमल को चूमती रहती है। उसको एक-एक दल विकसित हो सहस्रदल कर देते हैं, इसी तरह की मुक्ति मनुष्य की मुक्ति है।

पर जब किसी दूसरे ही तड़ाग के प्रति खिले हुए कमला को देखकर मनुष्य धावमान होता रहता है, तब भीतर की भुजग-शयना आँखें मूँद लेती है। कारण, वह आपने से अधिक सुंदर किसी दूसरी को नहीं मानती, तब मनुष्य मोहांव कहलाता है। हिंदी की पारिपार्श्विक शक्तियों का स्फुट रूप कभी हिंदी की पूर्णता का परिचित विकास नहीं बन सकता। मैंने अनेक बार लिखा है, कार्लाइल और रस्किन, शेली या रवींद्रनाथ हिंदी के लिये गौरव की वस्तु नहीं बन सकते। उनकी अनुवादित भावनाएँ, दूसरी जगह के खिले हुए फूलों को लाते-लाते मुरझाने की तरह, हिंदी में निष्प्रभ हैं। विकास अपने ही भीतर का विकास है, और वही विश्व-विकास है। किसी-किसी साहित्यिक ने देश के ठक्कुरों को छोड़कर विदेश के कुक्कुरों की पूँछ बुरी तरह पकड़ी है। पर पूँछ जिसकी है, वह उसी के साथ रहती है, यह भूल गए। बदले में दंश-क्षत लेकर स्वदेश लौटे। बात यह कि पेट में जब तक दीनता के पिल्ले कूँ-कूँ करते रहेंगे, मनुष्य को अपनी पहचान अपने आप न होगी, वह किसी ऊँची बात का अर्थ नहीं समझ सकता।

पंतजी और पल्लव

गत वर्ष, वसंत के पुष्प-पत्र के अंतिम ऐश्वर्य-काल में, भिन्नवर हिंदी के कोमल किशोर कवि श्रीयुत सुमित्रानंदन पंत के 'पल्लव' को सनौहर विकसित देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई थी। हिंदी के भंडाखंड में 'पल्लव' का फूटकर निकलना स्वाभाविक हर्ष का कारण है भी।

उस समय जब 'पल्लव' प्रेस की गैलियों की सघन प्रतंब डालियों के भीतर Projection of Nature का Problem solve कर रहा था, पंतजी के पत्र से प्रेस के कृष्णाकृति विशाल-वपु 'कलौ भोग-भयंकराः' भूतों के निष्करण-पीड़न, विश्लेषण-पेपण, धर्षण-वर्षण आदि से किए गए अनर्गल अत्याचारों की कल्पना मँने कर ली थी, तथा शीघ्र ही 'पल्लव' को यांत्रिक यंत्रणा से मुक्ति देने के लिये मन-ही-मन प्रार्थना भी परमात्मा से यथेष्ट की थी। परंतु कुछ महीनों के बाद 'पल्लव' के संबंध में विचार करते हुए परमात्मा की निर्दयता से मुझे विचलित हो जाना पड़ा। उनके प्रति जो क्षण-मात्र का विश्वास मैंने किया था, वह क्षण-मात्र में उठ भी गया; कारण, तब तक प्रसूत 'पल्लव' पंतजी द्वारा प्रेरित होकर मुझे प्राप्त न हुआ था। जिस

समय परमात्मा से मेरा असहयोग चल रहा था, मेरे एक मित्र ने आकर कहा, पंडितजी, 'पल्लव' तो प्रकाशित हो गया, कल मैं एक प्रति खरीदकर आपको दूँगा। अवश्य उस समय पंतजी की मित्रता की बानगी, पल्लव की एक प्रति उनसे न मिलने के कारण, उन्हें मैं 'यन्न ज्येति तदव्ययम्' ही कर रहा था। दूसरे दिन मित्र ने 'पल्लव' की एक प्रति खरीदकर मुझे दी। आलक्ष्यमयी भावनाओं का जाल समेटकर केंद्रीकृत स्थिर बुद्धि से मैं उसे पढ़ने लगा। उसके 'विज्ञापन' तथा 'प्रवेश'-भाग में पंतजी की सार्वभौमिकता के गज से कविता-कामिनी का शयन-जीर्ण प्राचीन कथा नपा हुआ तथा उनकी 'प्रतिभा के बछड़े' के हृत्थे से कवि-समुदाय को पलायन-पंथा पर श्वासावरुद्ध भागता हुआ देखकर बड़ा आनंद आया, जैसे क्षण-मात्र में किसी ने 'पुंगव' को 'पोंगा' कर दिया। दूसरे, कवि को ही टीकाकार के आसन पर देखकर मुझे विश्वास हो गया कि आजकल की दशाओं के विज्ञापक वस्तु-प्रसिद्धि के कौशल-ज्ञान से बिलकुल ही कोरे हैं। एक बार साधंत पढ़कर मैं अपने पूर्व भावों पर विचार करने लगा। जब एक दिन 'पल्लव' के लिये निश्कल सहृदयता का स्रोत हृदय के उभय कूलों को प्लावित कर बहा था, उस समय अवश्य पल्लव के पल्लव में मृत अतीत के साहित्य-महारथियों को डुबाने की पंतजी की चेष्टा पर कभी मुझे विचार करने का अवसर नहीं मिला, न मैं इस तरह का

बिचार कर सकता था। इस तरह की चेष्टा यदि सत्य की दृष्टि से निष्पाप सिद्ध होती, तो विशेष कुछ लिखने या कहने का अवसर न मिलता, उनके पुष्ट प्रमाण उस सत्य की रक्षा करते। केवल पद-समता के कारण मंडूक की तरह साँस फुलाकर हस्तिकाय कहलाने की चेष्टा पंतजी को न करनी थी। मंडूक की तरह पंतजी पद-लघुता और पद-गुरुता के ज्ञान से विवर्जित नहीं। 'पल्लव' की छाया में जो मुझे भी ताप से शीतल करने की पंतजी ने सहृदयता दिखलाई है, और अपने इस उपकार का कहीं उल्लेख भी अपने प्रेरित पत्र में नहीं आने दिया, उस समय मुझे मालूम न था कि इसके लिये कभी छापे के अक्षरों में धन्यवाद देने की मुझे आवश्यकता पड़ेगी। 'पल्लव' के 'प्रवेश'-भाग में कविता, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, अतीत के कवि, कवित्त, स्वच्छंद छंद, बंगला की कविता, 'निराला' के छंद, शब्दों के रूप-राग, स्वर आदि जिन अनेक विषयों को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की हैसियत से हिंदी के दरिद्र भांडार में लाने की पंतजी ने चेष्टा की है, उनकी अलग-अलग समालोचना करने के पहले मैं एक बह विषय उठा रहा हूँ, जिसकी कहीं चर्चा भी 'प्रवेश' के ५४ पृष्ठों में उन्होंने नहीं की।

इस विषय का उन्हीं से घनिष्ठ संबंध है। अपनी कविता की कारीगरी की व्याख्या तो उन्होंने येन-केन-प्रकारेण अच्छी

ही की है, परंतु इस कारीगरी का साँचा उन्हें कहीं मिला, किस तरह वह अपने लिये इतने अच्छे कवि हो गए, कविता पर वह राजनीति-क्षेत्र के वर्तमान नेताओं की तरह कोई जन्मसिद्ध अधिकार रखते हैं या नहीं, इस तरह के आवश्यक विषयों को उन्होंने प्रच्छन्न ही छोड़ रक्खा है। पहले इन अव्यक्त विषयों पर ही मैं प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा। पंतजी की कविता-कामिनी के लाड़ले भाव-त्रिशंकु को साहित्य के नभोमंडल में गति-रहित निराधार ही छोड़ रखना अनुचित-सा प्रतीत हो रहा है।

महर्षियों ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नहीं। वह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिये अमर और अक्षय है। वह न पुरुष है, न स्त्री, इसलिये उसे 'तत्सत्' कहा। वह आजकल की विश्व-भावना, विश्व-मैत्री आदि कल्पना-कलुषित बुद्धि से दूर, वाणी और मन की पहुँच से बाहर है, जड़ की सहायता से वह अपनी व्याख्या नहीं कराना चाहता, इस तरह उसमें जड़त्व का दोष आ जाता है, वह स्वयं ही प्रकाशमान है—बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना; कर बिनु कर्म करै बिधि नाना—आदि-आदि से कर्ता भी वही है, जड़ में कर्म करने की शक्ति कहाँ? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शास्त्र-कारों ने जड़ कहा है, क्योंकि वे पंचभूतों के जड़पिंड का आश्रय लिए हुए हैं, और मृत्यु होने पर कारण-शरीर में

तन्मय रहते हैं—इन्हें लिङ्ग-ज्ञान भी है—इस तरह जड़त्व-वर्जित न होने के कारण इन्हें भी, ब्रह्म से बहिर्गत कर, जड़ कहा है, यद्यपि ब्रह्म के प्रकाश को पाकर ही ये क्रिया-शील होते हैं। कुछ हो, ये सब यंत्र ही हैं, कर्ता वही है, और उसके कर्तृत्व का एकाधिकार समझकर ही उसे 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' कहा है।

इस तरह कवि भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है, जड़ शरीर से ध्यान छूट जाता, जड़ शरीरवाले कवि की आत्मा दिखाई पड़ती है। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस तरह होगी—जैसे बालक पंतजी में कविता करने की शक्ति न थी, शक्ति का विकास हो रहा था, न मन में सोचने की शक्ति थी, न अंगों में संचालन-क्रिया की, धीरे-धीरे, शक्ति के विकास के साथ-ही-साथ, जिस जाति और वंश में वह पैदा हुए—उनके संस्कारों को लिए हुए, वह बढ़ने लगे, पढ़ने लगे, अपने व्यक्तित्व पर जोर देकर बड़े होने लगे। उन्हें अपनी रुचि का अनुभव हुआ, इस तरह चेतन और जड़ का मिश्रित प्रवाह उनके भीतर से अपनी सत्ता को संसार की अनेक सत्ताओं से विरल्लिष्ट कर वहने लगा। एक दिन उन्हें मालूम हुआ, उनकी रुचि कविता पर अधिक है। यहाँ इस रुचि को पकड़िए, यह जहाँ से आई है, वह ब्रह्म है, जहाँ अब उनकी बाह्य शिक्षा ठहरेगी—जिस तरह से वह भविष्य में कवि होंगे, वह केंद्र भी ब्रह्म ही है, जीवात्मा का संयोग लिए हुए। इस तरह भारतीयों ने ब्रह्म को ही कवि स्वाकार किया है। यह

रुचि या इच्छा क्यों पैदा होती है, इसका कारण अभी तक नहीं बतलाया जा सका, यहाँ भारतीय शास्त्र मौन हैं, और है भी यही यथार्थ उत्तर, क्योंकि जब एक के सिवा दूसरा ही ही नहीं, तब उस एक की रुचि का कारण कौन बतलाए, इसलिये ही कहा है, नमक का पुतला समुद्र की थाह लेने के लिये जाकर गल गया, खबर देने के लिये न लौटा ।

अस्तु । इस तरह पंतजी की आत्मा में कवि होने की—सृष्टि की रुचि का कारण नहीं बतलाया जा सकता, परंतु रुचि हुई अवश्य उस ब्रह्मरूपी पंतजी की अनादि सत्ता में और कविता की कारीगरी, अक्षरों, शब्दों और भावों के चित्रों को ब्रह्म की शक्ति, माया धारण करने लगी, प्रकृति में अनेक प्रकार की छायाएँ पड़ने लगीं । स्मृतियाँ यही हैं अनेक वस्तुओं की, अनेक भावों की । जड़ की ही स्मृति होती है । इन स्मृतियों को जिस तरह पहले प्रकृति धारण करती है, उसी तरह फिर निकालती भी है । बच्चे को 'क' सिखाइए, जब लिखकर 'क' के चित्र की धारणा वह कर लेगा, प्रकृति में 'क' की छाया पड़ जायगी, स्मृति दुरुस्त हो जायगी, तभी वह आप-से-आप 'क' लिख सकेगा ।

“पंतजी के पल्लव में इतनी ही कमी है । उन्होंने अपनी शिक्षा पर पर्दा डाला है । किस तरह, कहाँ-कहाँ से, छाया-चित्रों को उनकी प्रकृति ने ग्रहण किया है, उन्होंने नहीं लिखा । यह शायद इसलिये कि इससे महत्ता घट जायगी, लोग समा-

दूर कम करेंगे । दूसरों की आँखों में धूल भोंककर, दूसरों को दबाकर बड़े होने की आदत पश्चिम की ही शिक्षा से मिलती है, यहाँ तो पहले ही बाबाआदम की बात सुनाकर शिष्य को सत्य ब्रह्म का यंत्र बना देते हैं, उसके अहंकार की बुद्ध सोमा को तोड़कर उसमें पूर्णत्व भर देते हैं, उसे यंत्र बनाकर कर्ता और शिष्य बनाकर गुरु कर देते हैं, जड़त्व लेकर चेतना और ममत्व लेकर प्रेम देते हैं । वह अंध योरप की तरह नहीं होता, लक्ष्य-अष्ट ग्रह की तरह उसकी गति अनियंत्रित नहीं होती ।

यद्यपि अपनी शिक्षा का हाल पंतजी ने नहीं लिखा, छिपा रक्खा है, तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नहीं दे सके—

“गंध-सुगंध हो अंध-समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार”

—पंतजी

“सोमार मन्दिर गंध अंध वायु बहे चारिभित्ते”

—रवीन्द्रनाथ

“.....अतल के
बतलातीं जो भेद अपार”

—पंतजी

“अतस्तु रहस्य येन चाय बलिबारे”

—रवीन्द्रनाथ

“नीरव-घोष-भरे शंखों में”

—पंतजी

“नीरव सुरेर शंख बाजे”

—रवींद्रनाथ

“मेरे आँसू गूँथ”

—पंतजी

“गोधेच्छि अशुमालिका”

—रवींद्रनाथ

“शस्यशून्य वसुधा का अंचल”

—पंतजी

“शस्यशीर्षे शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल”

—रवींद्रनाथ

“शस्यशीर्षशशि धरार अंचलतल भरि”

—रवींद्रनाथ

“विपुल-वासना-विकच विश्व का मानस शतदल”

—पंतजी

“.....विकसित विश्व वासनार
अरविद... ..”

—रवींद्रनाथ

“आलोकित अंबुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा इंगित पर करता नर्तन ।”

—पंतजी

“तरंगित महालिधु मंत्रशांत भुजंगेर मत्त
पड़ेछिल पदयांते उच्छ्वसित फणा लक्षशत
करि अवनत”

—रवींद्रनाथ

“गात्रो, गात्रो, विहग-बालिके,
तरुवर से शृदु मंगल-गान”

—पंतजी

Then, sing ye birds, sing, sing a joyous song.

—Wordsworth.

उदाहरण के लिये इससे अधिक की आवश्यकता न होगी। कहीं-कहीं जो थोड़ा-सा रूपांतर पंतजी ने किया है, वह केवल अपने छंद की सुविधा के लिये। पंतजी चौर्य-कला में निपुण हैं। वह कभी एक पंक्ति से अधिक का लोभ नहीं करते। एक पंक्ति किसी एक कविता से ली, दूसरी किसी दूसरी कविता से, तीसरी में कुछ अपना हिस्सा मिलाया, चौथी में तुक मिलाने के लिये वैसा ही कुछ गड़कर बैठा दिया। इस तरह की सफाई के पकड़ने में समालोचकों को बड़ी दिक्कत होती है। उधर कवि को अपनी मौलिकता को विज्ञापनबाजी करने में कोई भय भी नहीं रहता। रवींद्रनाथ की ‘उर्वशी’ कविता के चार उदाहरण मैंने उद्धृत किए हैं, जो नंबर १, ५, ६ और ७ में आए हैं। उनमें पहला और पाँचवाँ उदाहरण

पंतजी की 'अनंग' कविता में है और छठा, सातवाँ उदाहरण उनकी 'परिवर्तन' कविता में !

दूसरे के भाव लेकर प्रायः सब कवियों ने कविताएँ लिखी हैं । परंतु वहाँ हर एक कवि ने दूसरे के भाव पर विजय प्राप्त करने की, उससे बढ़कर अपना कोई विशेष चमत्कार दिखलाने की, चेष्टा की है । पंतजी में यह बात बहुत कम है । कहीं-कहीं तो दूसरे के भावों को बदलकर, उसमें कुछ अपना हिस्सा मिलाकर, चमत्कार दिखलाने में इन्हें अच्छी सफलता हुई है, परंतु अधिकांश स्थलों में सुंदर-से-सुंदर भावों को इन्होंने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है । यह केवल इसलिये कि यह भावों के सौंदर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौंदर्य पर ।

एक उदाहरण लीजिए—

“आपन रूपेर राशे
आपनि लुकाए हासे”

—रवींद्रनाथ

“रूप का राशि राशि वह रास
रगों की यमुना श्याम”

—पंतजी

पंतजी की प्रथम पंक्ति रवींद्रनाथ की ही पंक्ति से ली गई जान पड़ती है, परंतु केवल शब्द-साम्य ही वह अपना सके हैं, भाव-सौंदर्य की छाया भी नहीं छू सके । रवींद्रनाथ की दोनो पंक्तियाँ परस्पर संबद्ध हैं, पंतजी की दोनो पंक्तियाँ एक दूसरे से अलग ।

यह दोष पंतजी की तमाम कविताओं में है, और यह केवल इसलिए कि वह पंक्ति-चोर हैं, भाव-भांडार के लूटनेवाले डाकू नहीं। छकने के लिये एक चुल्हू से ज्यादा नहीं चाहते, शायद हज़म न कर सकने का खौफ करते हैं, रवींद्रनाथ की पंक्तियों का भाव—“अपने रूप को राशि में आप छिपकर हँसती है—” इन पंक्तियों में सुंदरी नायिका का कितना सरस भाव है ! अर्थ से आदि रस का निष्कलुष परम सुंदर चित्र आँखों के सामने आता है। उधर पंतजी को “रूप का राशि राशि वह रास”—पंक्ति कुछ शब्दों के कलरव के सिवा और कोई अर्थ-पुष्ट मनोहर चित्र सामने नहीं रखती। यदि हम यह कल्पना करें कि अनेक रूपवती गोपिकाएँ वृष्ण के साथ रास में रूप की सुधा पान कर रही हैं, तो ऐसी कल्पना हम क्यों करें ? उनकी पंक्ति में तो इतनी गुंजायश ही नहीं है। और, थोड़ा देर के लिये यदि इस तरह की कोई कल्पना कर भी लो जाय, तो दूसरी पंक्ति का अर्थ इसका विरोधी खड़ा हो जाता है—“दृगों की यमुना श्याम”, इसमें दुःख है, जो “रूप के रास” से बैर करने लगता है। यदि दृगों को ही यमुना मान लें, तो भी अर्थ-सिद्धि नहीं होती ; क्योंकि दृगों के भीतर से तो बाहर रूप-राशि देखो जा सकती है, पर यमुना के भीतर से कृष्ण-गोपियों की रूप-राशि न देखी गई थी। शब्दों के सार्थक संगठन से जो भाव तैयार होता है, उसे भी शब्द-चित्र की तरह दोष-रहित होना चाहिए।

एक उदाहरण और—

“नवोद्गा बाल लहर, अचानक उपझूलों के,
प्रसूनों के दिग रुककर, सरवती है सखर।”

—पंतजी

‘पल्लव’ के ‘प्रवेश’ में हम लोगों के समझने के लिये पंतजी ने अपनी इन पंक्तियों की व्याख्या भी कर दी है। मेरी समझ में यह भाव पंतजी का नहीं, यह भी रवींद्रनाथही का है। पहले की तरह कुछ परिवर्तन करके इसकी भी पंतजी ने वैसी ही हत्या की है—

“श्यामल आमार दुहटी झूल,
भाके भाके ताहे फुटिबे झूल।
खेला झले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाए जाबे।”

—रवींद्रनाथ

कितने सुंदर भाव को हत्या की गई है ! पंतजी ने लिया है इन्हीं इतनी पंक्तियों का भाव, परंतु रवींद्रनाथ की सौंदर्य की अप्सरा कुछ और नवीन नृत्य दिखलाती है, अभी पूर्वोक्त पद्य अधूरा है। वह अंतिम अंश इस प्रकार है—

“शरम-विमला कुसुम-रमणी
फिराबे शानन शिहरि अमनि,
आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जाबे ;

भेले गिणु शेषे काँदिके हाथ ,
किनारा कोथाय पावे !”

—रवींद्रनाथ

पंतजी की पंक्तियों का अर्थ बिलकुल साफ है, यहाँ तक कि पद्य की लड़ियों को बराबर कर लीजिए, गद्य बन जायगा, कहीं परिवर्तन करने को जरूरत न होगी। पंतजी की नवोद्गा बाल लहर के अचानक उपकूलों के ढिंग रुककर सरकने में कोई विशेष भाव-सौंदर्य सुगने नहीं मिला, परंतु जहाँ से यह भाव लिया गया है, रवींद्रनाथ को उन पंक्तियों में अवश्य सौंदर्य की उभय-कूल-प्लाविनी सरिता बह रही है। रवींद्रनाथ की प्रथम चार पंक्तियों का अर्थ—

‘मेरे दोनो श्यामल कूलों में जगह-जगह पुष्प विकसित होंगे, और क्रीड़ा के छल से लहरियाँ पास आ अचानक चूम-कर भग जायँगी !’

एक तो पंतजी के छंद के छोटे-से वेरे में ये कुल भाव आ ही नहीं सके, दूसरे, मौलिक प्रतिभा के प्रदर्शन और छंद की रक्षा के लिये कुछ शब्दों को बिचश होकर उन्होंने बदल दिया है, जैसे रवींद्रनाथ की लहर फूल को अचानक चूमकर भागती है, और पंतजी की लहर अचानक प्रसूनों के ढिंग रुककर सत्वर सरकती है। अवश्य ही रवींद्रनाथ के ‘पलाए जावे’ का शब्द-चित्र पंतजी ने ‘सत्वर सरकती’ से प्रकट किया है, ‘सत्वर’-शब्द के बढ़ने पर भी पंतजी की लहर ‘पलाए जावे’ का घुल

चंचल सौंदर्य नहीं पा सकी। 'सरकती' के 'सर' अंश से लहर के चलने का आभास मिलता है, परंतु अंतिम 'कती' अंश उसके कुछ बढ़ने के परचान् उसे पकड़कर रोक लेता है, जिससे Additional (संयुक्त) 'सत्वर' भी उसे उसके स्थान से हिला नहीं सकता, बल्कि खुद ही कुछ दूर बढ़ता चला जाता है। यहाँ के शब्द-चित्र से हास्य-रस की अवतारणा हुई है, जैसे 'सरकती' से लहर कुछ चलकर रुक गई हो, और 'सत्वर' उसे बसीटने को चेष्टा कर (हाथ-संबंध) छूट जाने के कारण, खुद ही कुछ दूर पर रपटता हुआ ढर हो गया हो। दूसरे, 'सरकने' का मुद्रावरा भी बहुत दूर तक चलने का नहीं, 'कुछ हटना, फिर स्थिति' जोक की चाल की तरह है। रवींद्रनाथ अपनी लहर के आने का कारण बतलाते हैं 'खेला-छले', और इससे सरल-सौंदर्य शिशु के हास्य की तरह प्रदीप्त हो बठता है। पंतजी ने अपनी लहर के आने का कोई कारण नहीं बतलाया, शायद छंद के छोटे-से कमरे में इतने शब्दों का जगह नहीं मिल सकी। रवींद्रनाथ के छंद में जो मुखद प्रवाह मिलता है, पढ़ने में जिस तरह के आराम की अनुभूति होती है, वे बातें पंतजी के छंद में नहीं। रवींद्रनाथ के शब्दों में कर्कशता नहीं, पंतजी के शब्द छंद की जीर्ण शाखा के सूखे हुए पत्ते हो रहे हैं।

दूसरे, संपूर्ण भाव को न अपना देने के कारण, सौंदर्य के सिंधु को ही पंतजी ने छोड़ दिया है। वास्तव में लोकोत्तरानंद

रवींद्रनाथ की पूर्वोक्त पंक्तियों के बाद मिलता है। पीछे इन पंक्तियों का ओ उद्धरण दिया जा चुका है।

प्रकृति का एक साधारण-सा बात पर कवि की कल्पना में कितनी सुकुमारता आ सकती है, रवींद्रनाथ की पंक्तियों से बहुत ही स्पष्ट परिचय मिल रहा है। 'नदी की लहर तट की पुष्पित डाल के पुष्प को स्पर्श कर बहती चली जाती है।' इस पर कवि लहर की सजीवता, उसके आने का कारण क्रीड़ाच्छल, स्पर्श से पुष्प को चूमना और स्वभाव में लहर की प्रकृति-सिद्ध पलायन-चंचलता दिखलाकर प्राकृतिक सत्य को कल्पना से सजीव कर देता है। और, इसके परचात, फूल की तरुणी कामिनी का हाथ लिखकर आदिरस को वेदांत के लोकोत्तरानंद में ले जाकर परिसमाप्त करता है। बाद के अंश का प्राकृतिक सत्य यह है—'लहर के छू जाने पर डाली और फूल हिलते हैं, फिर कली खुलकर नदी में गिर जाती है।' पहले कहा जा चुका है कि फूल को चूमकर लहर भग गई। यहाँ वह पुष्प पुरुष-पुष्प था। पुरुष-पुष्प को चंचला नायिका के चूमकर भग जाने के परचात दूसरी कली को, जो चूमी न गई थी, कवि फूल की तरुणी कामिनी कल्पना कर उसकी लज्जा, कंपन, खलन और बहकर असीम में मिलने के अंकन-सौंदर्य से कविता में स्वर्गीय विभूति भर देता है।

‘शरम-विमला कुसुम-रमणी’

“शर्म से कुसुम-कामिनी व्याकुल है”, इसलिये कि अभि-
सारिका उसके प्रेमी को चूमकर चली जा रही है—

“फिराये आनन शिहरि अभनि”

‘शिहरि’ = काँपकर (यह कंपन प्राकृतिक सत्य से, लहर के छू जाने पर डालो के साथ फूल के काँप उठने से लिया गया है) तत्काल वह मुँह फेर लगी । (प्रेमिका का मान, लज्जा, अपने नायक से उदासीनता आदि, मुख फेर लेने के साथ, प्रकट है । उबर डाल के हिलने, हवा के लगने से, कलौ का एक ओर से दूसरी ओर मुक जाना प्राकृतिक सत्य है, जिस पर यह सार्थक कल्पना का प्रवाह बह रहा है ।)—

“आवेशते शोवे अवश होइया

खसिया पड़िया जावे ।”

“अंत में वह आवेश से शिथिल हो खुलकर गिर जायगी ।”
(डाल के हिलने से कली का वृंत से च्युत होना प्राकृतिक सत्य है, इसे कल्पना का रूप देकर कवि कहता है, वह पुष्प की तरुणी भार्या आवेश से—भावातिरेक से शिथिल होकर नदी के ऊपर, वन में, गिर जायगी ।)—

“भेसे गिए शोवे काँदिवे हाय,

किनारा कोथाय पावे !”

“हाय ! वह बहती हुई रोएगी, क्या कहीं उसे किनारा प्राप्त होगा ?”

‘हाय’ और ‘कोथाय’ के बीच, उत्थान और पतन के

स्वर-हिलोर में बहती हुई उस कुसुम-कामिनी को जैसे वास्तव में कहीं किनारा न मिल रहा हो। कामिनी को अकूल में बहाकर कवि अकूलता के साथ-साथ सीमा-रहित आनंद में पाठकों को भी मग्न कर देता है।]

यहाँ एक बात और। रवींद्रनाथ की इन अंतिम पंक्तियों के 'सिहरि' शब्द पर ध्यान रखकर पंतजी की भी उद्धृत उन चार पंक्तियों के बाद का अंश देखिए—

“अकेली-आकुलता-सी प्राण !

कहीं तब करती श्रुत आघात ,

सिहर उठता कृश-गात्र ,

ठहर जाते हैं पग अशात !”

रवींद्रनाथ की कविता में भाव की लड़ी टूटती नहीं, उनकी कुसुम-कामिनी के सिहरने का कारण आगे बतलाया जा चुका है, परंतु यहाँ पंतजी का ही कृश-गात्र सिहर उठता है ! रवींद्रनाथ की कुसुम-कामिनी असहाय, निःसीम में बह जाती है, और पंतजी के पैर ठहर जाते हैं ! पता नहीं, नवोढ़ा बाल लहर के रुककर सरकने से पंतजी को इतना कष्ट क्यों होता है। शायद यहाँ भी पाठकों को अपनी तरफ से कुछ नई कल्पना करनी पड़े, जैसे लहर का सरकना देखकर कवि को अपनी प्रेयसी को याद आई, मिलना असंभव जान पड़ा, विरह-कृश शरीर सिहर उठा, पैर रुक गए। सौंदर्य के नंदन वसंत में निर्गंध पुष्प ही पंतजी के हाथ लगे। इस विषय पर

बहुत ज्यादा लिखकर प्रसंग से अकारण अलग हो जाना है।
पंतजी का एक उदाहरण और—

“सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार”

—पंतजी

“जखन सघन गगन गरजे”

—डी० एल्० राय

‘तमसाकार’ और ‘भीम’ ये ही दो शब्द पंतजी की पंक्तियों में अधिक हैं, कारण स्पष्ट है, छंद की पूर्ति। तारोफ तो यह कि यहाँ, इस आय में, गुरु और शिष्य दोनों ही प्राकृतिक सत्य से अलग हो रहे हैं, दोनों ही के ‘आकाश’ गरजते हैं, मेघ गौण हो गया है। परंतु सत्य-चित्र देखिए—मेघ ही गरजते हैं—

“घन घमंड गरजत नभ घोरा”

—तुलसीदास

“गुरु गुरु मेघ गुमरि गुमरि गरजे गगने गगने”

—रवींद्रनाथ

पंतजी की—

“अपने ही अश्रु-जल से सिक धीरे-धीरे बहता है।”

“जैसे हसकी क्रीड़ाप्रियता अपने ही परदों में गत बना रही हो।”

“स्वयं अपनी ही आँखों में बेटुके-से लगते हैं।”

“आपनी ही कंपनी में खीन।”

“अपनी ही कृषि से विरिमत हो जगती के अपलकलोचन ।”

“चारु नभचरी-सी त्रय-हीन अपनी ही सृष्टु-कृषि में लीन” आदि ।

इस तरह की ‘अपनी ही’ पर जोर देकर सौंदर्य की अभिव्यक्ति पर इतरानेवालो प्रकृतियाँ भी मौलिकता की दीप-मालिका में उधार के तेल की रोशनी से प्रदीप्त हो रही हैं—‘अपने ही’ या ‘अपनी ही’ के प्रवर्तक भी रवींद्रनाथ ही हैं, जिन्होंने इसे अँगरेजी का प्रकाशन-दंग देखकर ग्रहण किया जान पड़ता है। रवींद्रनाथ के उदाहरण—

“आपनाते आपनि विजन,”

“आपन जगतै आपनि आछिस एकटी रोगर मत,”

“आंधार लाइया हताश होइया आपने आपनि मिशे,”

“भलिन अपना पाने,”

“आपनार स्नेहे कातर बचन कहिस आपन काने,” आदि-आदि ।

पंतजी की कविता में पंखों की फड़क प्रायः सुनाई पड़ती है ।

जैसे—

“अपने छाया के पंखों में,”

“फड़का अपार पारद के पर,”

“पंख फड़काना नहीं थे जानते,” आदि ।

अँगरेजी-साहित्य से इस भाव की भी आमदनी हुई है ।

दंगल के कवि इसे अनेक तरह से प्रकट कर चुके हैं—

“आयरे बसंत, ओ तोर किरण माखा पाखा तुले”

“आंधार रजनी आसिबे एखनि मेलिया पाखा”

—रवींद्रनाथ

अति धीरे-धीरे उठिबे आकाशे लघु पाखा मेलि”

—रवींद्रनाथ

“थर-थर करि काँपिबे पाखा”

—रवींद्रनाथ

जगह ज्यादा धिर जाने के भय से अंगरेज कवियों के उद्धरण में न दे सका। और, यहाँ उद्धरण के लिये मेरे पास साधन भी कम हैं। देहात है, आवश्यक पुस्तकें यहाँ नहीं मिलती, स्मरण और कुछ ही पुस्तकों की सहायता से मित्रों के आग्रह की पूर्ति कर रहा हूँ। पंख का भाव लेकर पंख-प्रधान वाक्य में कुछ परिवर्तन कर देने पर भी कवि-कल्पना का मौलिक श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता, और इस दृष्टि से प्रायः सब कवियों को उधार लेना पड़ा है, इसका विस्तृत विवेचन इस समालोचना के अंतिम अंश में करूँगा। उदाहरणार्थ शैली का—

“Sungirl city, Thou hast been Ocean's child.”—

पेश करता हूँ। कविवर रवींद्रनाथ ने अपनी एक कविता में, जिसका उद्धरण मैं पुस्तक के अभाव से न दे सका, पृथ्वी को समुद्र की कन्या कल्पना कर बहुत कुछ लिखा है। उनकी कविता में समुद्र-माता बॉह फैलाकर आती, अपनी कन्या पृथ्वी को चूमती तथा अनेक प्रकार से आदर करती है।

‘माता-पुत्री’ के एक-मूल भाव को प्राप्ति के पश्चात् तदनुकूल अनेक भावों की कल्पना कर लेना बहुत आसान है। इस तरह की कल्पना को मैं मौलिक नहीं मानता। जिस कल्पना का मेरुदंड मौलिक नहीं, समालोचक की दृष्टि में वह ‘घड़ा’ देखकर ‘हंडा’ गढ़ने की तरह मौलिक है।

कार्यवशात् मुझे कलकत्ता आना पड़ा। रास्ते में गाड़ी कारी के स्टेशन पर पहुँची, साहित्यिक मित्रों की याद आई। साहित्य की मही वीर-बिहीन हो रही है, या कोई महावीर इस समय भी प्रहरण-कौशल-प्रदर्शन कर रहे हैं, कुछ मालूम न था; कौतूहल बढ़ा, मैं गाड़ी से उतर पड़ा। पहले के एक पत्र से सूचना मिल चुकी थी कि खड़ी बोलों की प्रथम कविता की स्वर्ण-लंका को छायावाद के मलिनत्व के स्पर्श से बचाने के लिये ‘सरस्वती’ के सुकवि-किंकर महाराय ने छायावाद के कवियों को लांगूलों में आग लगा दी है। कहते हैं, वे कवि उनके सुदृढ़ गढ़ के कँगूरे दहाते थे, अपने कर्ण-कट्ट शब्दों से उन्हें हैरान करते थे, और सबसे बड़ा पाप, सोते समय उनकी नासिका के छिद्र में लांगूल करके उन्हें जगा देते थे। अवश्य प्रकाश देखकर प्रसन्न होने से पहले अपने सुख और निद्रा के लिये मोहबशात् क्रोधांध हो जाना स्वाभाविक ही है—कुछ दिनों बाद मालूम हुआ, लांगूलों की प्रज्वलित वहि की शिखाएँ उत्तरोत्तर परिसर प्राप्त करती जा रही हैं। सोचा—यदि इस लंका

में पवन-प्रिय पुच्छ-पावक के रावण, कुंभकर्ण, अतिक्राय, महोदर और वज्रदंष्ट्रा आदि के गृहों के सिवा विभीषण की भीषण खाल में छिपे किसी कोमल कल्पना-प्रिय सहृदय सज्जन का 'राम-नाम अंकित गृह' नहीं मिला, तो अवश्य यह अनर्थ ही हुआ; क्योंकि इस तरह तो कविता-साहित्य के लंकाकांड की जड़ ही नहीं जम पाती, न भविष्य में हिंदी-साहित्य की रामायण के लिखे जाने की आशा ही सुदृढ़ होती है। निश्चय हुआ कि वर्तमान कविता की सीता के उद्धार के लिये अर्भा लांगूलों में अग्नि-संयोग से श्रीगणेश ही हुआ समझना चाहिए। यद्यपि इस समय भी लंका, पुलस्त्य-कुल, विभीषण और अशोक-वाटिका आदि वहाँ के संपूर्ण दृश्य और प्राणी लांगूलों के अनल से निःश्रुत धूस की छाया में छायावाद की कविता की ही तरह अस्पृ-रूप नजर आ रहे हैं। आश्चर्य है, न अथ तक किसी 'कविराय' ने स्याही के समुद्र में लांगूल-अनल की ज्वाला प्रशंसित की, न उनके विरोधियों ने ही 'तेल बोरि पट बाँधि पुनि' की कलकंठ-ध्वनि धोमी की।

मैं सोचता हुआ वावू शिवपूजनसहायजी के डेरे पर पहुँचा। वहाँ वर्तमान कविता-साहित्य की बहुत-सी बातें मालूम हुईं। वहीं ३० जुलाई १९२७ के 'मतवाला' में किसी 'युगल' महाशय द्वारा की गई छायावाद के कवियों की प्रशंसा में पंतजी का यह पद्य उद्धृत पाया। अवश्य

‘पल्लव’ के साथ इसका संबंध नहीं है। शायद यह पंतजी की इधर की रचना है—

“प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरे, वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकंपित-मृदु-उर, पुलकित गान;
सशंकित ज्योत्स्ना - सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृक्-पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण,
मधुरता में सी छिपी अज्ञान;
लाज की छुहंमुई-सी म्लान !
प्रिये, प्राणों की प्राण !”

इसे पढ़ते ही मुझे रवींद्रनाथ की उर्वशी की ये पंक्तियाँ याद आ गई—

“द्विधाय कंभवक्षे नम्रनेत्रपाते
स्मितहास्ये नहीं चल सलजित वासरशय्याते
स्तब्ध अर्द्धराते ।”

द्विधाय = सशंकित (ज्योत्स्ना-सी चुपचाप)

जड़ितपदे = जड़ित पद

कंभवक्षे = विकंपित मृदु उर

नम्रनेत्रपाते = नमित-पलक-दृक्-पात

स्मितहास्ये = मधुरता में सी छिपी अज्ञान

नहीं चल बासर शव्याते = पास जय आ न सकोगी प्राण
सलज्जित = लाज की छुईमुई-सी श्लान

कहीं कुछ बढ़ा दिया गया है, कहीं रवींद्रनाथ ही के शब्द रख दिए गए हैं। रवींद्रनाथ की 'उर्वशी' के संबंध में बड़े-से-बड़े समालोचकों ने लिखा है, 'उर्वशी' संसार के कविता-साहित्य में सौंदर्य की एक सर्वोत्तम सृष्टि है। 'उर्वशी' की पंक्तियाँ पंतजी के अनेक पद्यों में आई हैं। यह दिखलाया जा चुका है। इस तरह के अपहरण का फल भी कहा जा चुका है कि इससे भाव की लड़ी टूट जाती है, कविता का प्रकाशन-क्रम नष्ट हो जाता है।

“मा मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय-हार हो
अश्रु-कणों का यह उपहार ;

❁ ❁ ❁

तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
धम - जलमय मुक्तालंकार ।”

—पंतजी

“सोमार सोमार थालाय साजाबो आज

दुखेर अश्रु-धार ।

जननी गो, शंथबो तोमार

गलार मुक्ताहार ।

❁ ❁ ❁

तोमार तुके शोभा पावे आमार

दुखेर अलंकार ।”

—रवींद्रनाथ

‘जननी’ की जगह पंतजी ने ‘मा’ संबोधन किया है। ‘गलार मुक्ताहार’ की जगह ‘संजुल हृदय-हार’ आया है। ‘दुखेर अश्रु-धार’ की जगह ‘जीवन की हार’ आई है। ‘तोमार तुके शोभा पावे आमार दुखेर अलंकार’ की जगह ‘तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल अम-जलमय मुक्तालंकार’ हो गया है।

रवींद्रनाथ की ‘गीतांजलि’ की इस कविता के साथ यदि पंतजी की उद्धृत कविता को समालोचना करूँगा, तो अकारण लेख की कलेवर-वृद्धि होगी। अतएव जहाँ-जहाँ पंतजी ने परिवर्तन किया है, उस-उस स्थल के परिवर्तन के कारण सौंदर्य, सफलता, निष्फलता आदि छोड़ दिए गए। मेरे विचार से पंतजी के कुल ‘विनय’ पद्य से और रवींद्रनाथ की ‘गीतांजलि’ के १०वें गान से संपूर्ण समता है। वह परिवर्तन परिवर्तन नहीं। यदि हिंदी-संसार में युक्ति को कुछ भी मूल्य दिया जाता है, तो मैं कहूँगा, समालोचना होने पर युक्ति आदरणीय होगी।

“पंतजी की कविता में सोने का बड़ा खर्च है।” एक दूसरे कवि ने कहा था, जब मैं पंतजी के संबंध में उनसे वर्तालाप कर रहा था। उनके उदाहरण—

“मेरा सोने का गान ।”

“वह सुवर्ण-संसार”—आदि-आदि ।

यह भी पंतजी की अपनी चीज नहीं । बंगाल के कवि—

“आजि ए सोनार साँके”

“सोनार बरणी रानी गो”

“आमार सोनार धाने गियाछे भरि”—आदि-आदि से

अपनी कविता-सुंदरी को आवश्यकता से बहुत अधिक स्वर्णभरण पहना चुके हैं । और, उनके साहित्य में सोने की आसदनी हुई है विलासत के कवियों की मौलिक कृतियों की खानों से ; जैसे—

“In the golden lightning
of the sunken sun”

पंतजी ने हाथ बढ़ाकर बुलाने के सौंदर्य की कल्पना में—

“बढ़ाकर लघु लहरों से हाथ”

“बढ़ाकर लहरों से कर कौन”—आदि-आदि ।

अनेक पंक्तियाँ लिखी हैं—यह भी उनकी अपनी कल्पना नहीं । रवींद्रनाथ नदी की कल्पना में ‘आकुलि विकुलि शत बाहु तुलि’, अन्यत्र ‘मेघरे ढाकिछे गिरि हस्त बाड़ाए’ आदि बहुत कुछ लिख चुके हैं । पंतजी ने ‘वहीं से लिया’ जान पड़ता है ।

यही हाल पंतजी के ‘सजल’-शब्द का है । बंगला में शायद ही किसी कवि से ‘सजल’ छूटा हो ।

पंतजी के—

“सजल जलधर से वन जलधर” — में

‘सजल’-शब्द ‘जलधर’ के विशेषण के स्थान में अर्थ की दृष्टि से रहित हो रहा है। जलधर तो सजल है ही, फिर सजल जलधर क्या ? जान पड़ता है, पंतजी ने ‘जलधर’ के शब्दार्थ की ओर ध्यान नहीं दिया, ‘जलधर’ को निष्प्रभ काले मेघ का एक ठुकड़ा समझकर, उस पर ‘सजल’-ता की वार्निश कर दी है। पंतजी के ‘प्रवेश’ में शब्दों के रूप पर जो व्याख्या हुई है, उसके अर्थ से और पंतजी के इस तरह के प्रयोग से साम्य भी है। इसके संबंध में मुझे जो कुछ लिखना है, आगे चलकर इस पर विचार करते समय लिखूँगा।

‘राशि-राशि’ और उनके ‘शत-शत’-शब्दों से जो उच्चारण-मुख हमें मिलता है, इसका कारण हिंदी के कंठ-तालु-दंतोष्ठों द्वारा बँगला अक्षरों के यथार्थ उच्चारण की अक्षमता है। ये दोनों प्रयोग बँगला के अपने, आपा के प्रचलित मुहावरे हैं। हिंदी में न कोई ‘राशि-राशि’ कहता है, न ‘शत-शत’।

“चले आसे राशि-राशि

ज्योत्स्नार मृदु हासि” — तथा —

“ए आदर राशि-राशि” — आदि से

बँगला में ‘राशि-राशि’ की अगणित राशियाँ हैं और ‘शत-शत’ की सहस्र-सहस्र। हिंदी में सबसे पहला ‘शत-शत’ का प्रयोग शायद मैथिलीशरणजी ने किया है, परंतु उन्होंने

उसके पीछे एक 'संख्यक' जोड़कर उसे हिंदी की रजिस्टर्ड संपत्ति कर लिया। उनके 'पलाशोर युद्ध' के अनुवाद में है—

“शत-शत संख्यक कोहिनूर की प्रभा पाटकर—

दमक रहा था दिव्य रत्न उन्नत ललाट पर।”

अवश्य 'संख्यक' के न रहने पर 'शत-शत' में कामिनी-सुलभ कोमल सौंदर्य अधिक आ जाता है।

“हरे गगनेर नील शतदल खानि।”

—रवींद्रनाथ

“नभ के नील कमल में।”

—पंतजी

“I laugh when I pass by thunder.”

—Shelley

“कड़क-कड़ककर हैंसते हम जब धरा उठता है संसार।”

—पंतजी

“ये आये वीर बादर बहादुर मदन के”

—भूषण

“मदन-राज के वीर बहादुर”

—पंतजी

अब इस तरह की पंक्तियों के उद्धरण और न दूँगा। यदि आवश्यकता होगी, तो इस संबंध में फिर कभी लिखूँगा। यह विचार इस समय स्थगित करता हूँ। मेरा मतलब पंतजी पर आकारण आक्रमण करना नहीं। जिस विषय पर 'पल्लव' के 'प्रवेश' में उन्होंने एक पंक्ति नहीं लिखी—उधर दूसरों

की समालोचना में श्रुत्युक्ति-से-श्रुत्युक्ति कर डाली है, उस विषय का साहित्य में अनुच्छिखित रह जाना मुझे बुरा जान पड़ा, मैंने उसका उल्लेख किया।

अब मैं उन विषयों पर क्रमशः लिखने की चेष्टा करूँगा, जिन पर पंतजी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में विचार किया है। पहले कवित्त-छंद को ही लेता हूँ। पंतजी लिखते हैं, "कवित्त-छंद मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिंदी का औरस-जात नहीं, पोष्य पुत्र है। × × × हिंदी के × × स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालन-पूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है; छंद की रचना में अंतर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छंदोबद्ध शब्द एक दूसरे को भ्रूण करते हुए, परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं; हिंदी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता। सारी शब्दावली जैसे मध्य-पान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त-छंद के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छंद में बाँध दीजिए, यथा —

“कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है”, इस लड़ी को भी सोलह मात्रा के छंद में रख दीजिए—

“सुकून में केलिन में (और)
 कछारन कुंजन में (सब ठौर)
 कलित क्यारिन में (कल) किलकंत
 बनन में बगरयो (विपुल) बसंत ।”

“अब दोनों को पढ़िए और देखिए, उन्हीं ‘कूलन केलिन’
 अदि शब्दों का उच्चारण-संगीत इन दो छंदों में किस प्रकार
 भिन्न-भिन्न हो जाता है। कवित्त में परकीय और मात्रिक छंद में
 स्वकीय हिंदी का अपना उच्चारण मिलता है।”

कवित्त-छंद के संबंध में पंतजी का जान पड़ना आर्यों के
 आदिम आवास पर की गई आर्यों ही के सृष्टि-तत्त्व के प्रति-
 कूल अंगरेजों की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं की तरह बुद्धि का
 वचन-शिल्प प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कोई संग्राह्य सार
 पदार्थ नहीं रखता। हिंदी के प्रचलित छंदों में जिस छंद को
 एक विशाल भूभाग के मनुष्य कई शताब्दियों तक गले का हार
 बनाए रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक, संयोग-वियोग और मैत्री-
 शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज साहित्य के रूप में
 विराजमान हो रही है—आज भी जिस छंद की आवृत्ति करके
 ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनंद अनुभव करते हैं, जिसके
 समकक्ष कोई दूसरा छंद उन्हें जंचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों
 के उस जातीय छंद को—उनके प्राणों की जीवनी-शक्ति को
 परकीय कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है, पंतजी
 स्वयं समझें। पंतजी की रुचि तमाम हिंदी-संसार की रुचि

नहीं हो सकती। जो वस्तु उनकी अपनी नहीं, उसके संबंध में विचार करते समय, वह जिनकी वस्तु है, उन्हीं की रुचि के अनुकूल उन्हें विचार करना था। मैं समझता हूँ, जो वस्तु अपनी नहीं होती, उस पर किसी की भमता भी नहीं होती, वह किसी के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। जिस दिन कवित्त-छंद की सृष्टि हुई थी, उस दिन वह भले ही हिंदी-भाषी अगणित मनुष्यों की अपनी वस्तु न रहा हो, परंतु समय के प्रवाह ने हिंदी के अन्यान्य प्रचलित छंदों की अपेक्षा अधिक बल उसे ही दिया, उसी की तरंग में हिंदी-जनता को अपने मनोमल के धोने और सुभाषित रत्नों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहने और सुनने की आवश्यकता पड़ी। पंतजी ने जो कवित्त-छंद को हिंदी के उच्चारण-संगीत के अनुकूल, अस्वाभाविक गति से चलनेवाला बतलाया, इसका कारण पंतजी के स्वभाव में है, जिसका पता शायद वह लगा नहीं सके। उनकी कविता में (Female graces) स्त्रीत्व के चिह्न अधिक होने का कारण— उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त-जैसे पुरुषत्व-प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो संगीत में भी स्त्री-पुरुष-भेद हुआ करता है—राग और रागिनियों के नाम ही उनके उदाहरण हैं। अक्षर-मात्रिक स्वर-प्रधान राग स्त्री-भेद में और व्यंजन-प्रधान पुरुष-भेद में होंगे। पंतजी ने कवित्त की लड़ी को १६ मात्राओं से जो अपने अनुकूल कर लिया, वह स्त्री-भेद में हो गया है। वह कभी पुरुष-भेद में जा

नहीं सकती, उसके स्त्रीत्व का परिवर्तन नहीं हो सकता, परंतु कवित्त में यह बात नहीं। इस छंद में एक ऐसी विशेषता है, जो संसार के किसी छंद में न होगी। निर्गुण आत्मा की तरह यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी। यों पंतजी ने तो इसे नपुंसक सिद्ध कर ही दिया है। चौताल में इस छंद के पुरुषत्व का कितना प्रसार होता है, स्वर किस तरह परिपुष्ट उच्चरित होते हैं, ध्यानंद कितना बढ़ता है, देखें—

चौताला—

+	१	१	२																			
क	+	क	+	क	+	न	+	मैं	+	ए	+	कै	+	ए	+	लि	+	न	+	अ	+	क
+	१	१	२																			
क्या	+	अ	+	रि	+	न	+	मैं	+	ए	+	क	+	ज	+	न	+	मैं	+	ए		
+	१	१	२																			
क्या	+	अ	+	रि	+	न	+	मैं	+	ए	+	क	+	लि	+	त	+	अ	+	अ	+	क
+	१	१	२																			
ली	+	ई	+	ई	+	न	+	कि	+	ल	+	क	+	अ	+	अ	+	त	+	है	+	ए

जिस "कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलोन किलकंत है" कवित्त-छंद के संबंध में पंतजी कहते हैं, राग कुंठित हो जाता, सब गुरु और ह्रस्व स्वर आपस में टकराने लगते हैं—केवल एक मात्रा-काल मिलाने के कारण उसी छंद के लघु और गुरु-स्वरों को इस चौताला के

इस जगह तीन ताल की साधारण रागिनी में कवित्त-छंद का प्रत्येक अक्षर, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा पा रहा है, केवल अंतिम अक्षर को दो मात्राएँ दी गई हैं, यह १६+१६ मात्राओं से दोनो लड़ियों को बराबर कर लेने के अभि-प्राय से। कवित्त के (१६+१५) से संगीत के समय की रचा नहीं होती, इसलिये १५ मात्राओंवाले चरण के अंतिम गुरु अक्षर को दो मात्राएँ दी गई हैं। कवित्त का यह स्त्री-रूप है। यह रूप तथा शूल में भी दस मात्राएँ लेकर चल सकता है। इसका विश्लेषण यदि कल्पना की दृष्टि से न कर, प्रत्यक्ष जगत् में प्रचलित इसके स्वर-वैचित्र्य की जाँच करने के पश्चात् पंतजी इसके संबंध में कुछ लिखते, तो उन्हें इस तरह के भ्रम में न पड़ना पड़ता।

अब मुक्त-काव्य के संबंध में कुछ लिखना चाहता हूँ। पंतजी लिखते हैं—“सन् १६२१ में, जब ‘उच्छ्वास’ मेरी कृश लेखनी से यज्ञ के कनक-बलय की तरह निकल पड़ा था, तब ‘निगम’-जी ने ‘सम्मेलन-पत्रिका’ में उस ‘बीसवीं सदी के महाकाव्य’ का आलोचना करते हुए लिखा था, “इसकी भाषा रँगिली, छंद स्वच्छंद है।” पर उस वामन ने, जो लोक-प्रियता के रात-दिन घटने-बढ़नेवाले चाँद को पकड़ने के लिये बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगें फैला दीं कि आज सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य-बश हिंदी में सर्वत्र ‘स्वच्छंद छंद’ ही की छटा दिखलाई पड़ती है।”

पंतजी की इन पंक्तियों से उनके स्वच्छंद छंद के अवर्तन की लिप्सा बहुत अच्छी तरह प्रकट हो गई है। उनके हृदय का दुःख भी लोगों के रचे हुए स्वच्छंद छंद के विकृत रूप पर (जिसे वे ही यथार्थ रूप से संगठित कर सकने का पृष्ठ विचार रखते हैं) प्रकट हो गया है, और विना किसी प्रकार के संकोच के अपने सिद्धांत पर प्रगाढ़ विश्वास रखते हुए स्वच्छंद हृदय से घोषित कर रहे हैं कि दूसरों के स्वच्छंद छंद की हरियाली पर उन्हीं के 'उच्छ्वास' के प्रपात का पानी पड़ा है, अथवा स्वच्छंद छंद की अनुर्वर भूमि उन्हीं की डाली हुई खाद से उपजाऊ हो सकी है—उधर 'उच्छ्वास' के प्रथम मेघ से उस पर पानी भी उन्होंने ही बरसाया; और चूँकि 'निगम'जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उनके 'उच्छ्वास' की लड़ियों को स्वच्छंद छंद स्वीकार कर लिया है, इसलिये वह स्वच्छंद छंद के सिवा और कुछ ही भी नहीं सकता।

इसमें संदेह नहीं कि पंतजी की भूमिका से हिंदी में स्वच्छंद छंद विनोद बाबू का कॉमा (,) हो रहा है। इस 'कॉमा' का इतिहास—

किसी स्टेट में (घटना सत्य होने के कारण स्टेट का नाम नहीं लिया गया) विनोद बाबू, एक बंगाली सज्जन, नौकर थे। हेड क्लर्क थे। सब ऑफिसरों को विश्वास था, विनोद बाबू अच्छी अँगरेजी लिखते हैं। खत-किताबत का काम उन्हीं के सिपुर्द था। एक रोज़ राजा साहब एकाएक कचहरी में दाखिल

हो गए। सब ऑफिसरों ने उठकर उनका यथोचित सम्मान किया। राजा साहब बैठ गए, और लोग भी बैठे। मैनेजर साहब विनोद बाबू की लिखी एक चिट्ठी गौर से देख रहे थे। राजा साहब न रहते, तो अवश्य वह उस पर अपने हस्ताक्षर कर देते; परंतु राजा साहब को अपने कार्य की दक्षता दिखलाने के विचार से उन्होंने विनोद बाबू से कहा, यहाँ एक कॉमा लगाना चाहिए। बहुत दिनों से राजा साहब स्टेट को देख-रेख कर रहे थे। परंतु यह श्रुति-मधुर नाम पहले कभी उन्होंने न सुना था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि स्टेट की रक्षा के लिये यह जरूर शतघ्नी से बढ़कर कोई महास्र होगा। उन्होंने मैनेजर की तनखवाह बढ़ा दी। दूसरे दिन मैनेजर के आने से पहले ही वह कवहरी पहुँचे। तब तक विनोद बाबू दो-तीन चिट्ठियाँ लिख चुके थे। मैनेजर को कुर्सी पर राजा साहब को देखकर उन्हीं के सामने हस्ताक्षरों के लिये चिट्ठियाँ रख दीं। उसी तरह गौर से राजा साहब भी चिट्ठियों को देखते रहे (राजा साहब को अँगरेजी-वर्णमाला का ज्ञान था)। विनोद बाबू से कहा, देख लो, कहीं कॉमा की गलती न हो गई हो। विनोद बाबू ने उस रोज तो शांति-पूर्वक सब काम किया, परंतु दूसरे दिन कॉमा के महत्व से घबराकर उन्होंने इस्तोफा दाखिल कर दिया।

इसी तरह हिंदी में स्वच्छंद छंद के कॉमा का प्रचलन करना यदि पंतजी का अभिप्राय है, तो, मैं कहूँगा, आश्चर्य

नहीं, यदि उससे कितने ही विनोद वावू मजबूर होकर इस्तीफा दाखिल करें।

पंतजी की कविताओं में स्वच्छंद छंद की एक लड़ी भी नहीं, परंतु वह कहते हैं, “‘पल्लव’ में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छंद में हैं, जिनमें ‘उच्छ्वास’, ‘आँसू’ तथा ‘परिवर्तन’ विशेष बड़ी हैं।” यदि गीति-काव्य और स्वच्छंद छंद का भेद, दोनों की विशेषताएँ पंतजी को मालूम होतीं, तो वह ऐसा न लिखते। ‘स्वच्छंद छंद’ और ‘मुक्त-काव्य’ के ‘स्वच्छंद’ और ‘मुक्त’ विशेषणों के अलांकारों से यदि उन्हें अपनी शोभा बढ़ाने का लोभ हुआ हो, तो यह और बात है ; क्योंकि हिंदी के वर्तमान शब्द-प्रमाद-प्रस्त अनेक कवि स्वयं ही अपने नामों के पहले ‘कविवर’ और ‘कवि-सम्राट्’ लिखने तथा छापने के लिये संपादकों से अनुरोध करने की उच्च आकांक्षा से पीड़ित रहा करते हैं। परंतु यदि यथार्थ तत्त्व की दृष्टि से उनकी पंक्तियों की जाँच की जाय, तो कहना होगा कि उनकी इस तरह की पंक्तियाँ—

“दिव्य स्वर था आँसू का तार

बहा दे हृदयोद्गार !”

जिनकी संख्या उनकी अब तक की प्रकाशित कविताओं में बहुत थोड़ी है—विषम-मात्रिक होने पर भी गीति-काव्य की परिधि को पार कर स्वच्छंद छंद की निराधार नंदन-भूमि पर पैर नहीं रख सकतीं। उद्धृत प्रथम पंक्ति में चार आघात हैं और दूसरी में तीन। इस तरह की पंक्तियों में छंद की मात्राओं से

पहले संगीत की मात्राएँ सूझ जाती हैं। छंद भी संगीत-प्रधान है, अतएव यह अपनी प्रधानता को छोड़कर एक दूसरे छंद के घेरे में, जो इसके लिये अप्रधान है, नहीं जा सकता। दूसरे स्वच्छंद छंद में 'तार' और 'गार' के अनुपासों की कृत्रिमता नहीं रहती—वहाँ कृत्रिम तो कुछ है ही नहीं। यदि कारीगरी की गई, मात्राएँ गिनी गईं, लड़ियों के बराबर रखने पर ध्यान रक्खा गया, तो इतनी बाह्य विभूतियों के गर्ब में स्वच्छंदता का सरल सौंदर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि नष्ट हो जाता है। पंतजी ने जो लिखा है कि स्वच्छंद छंद ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छंद छंद में art of music नहीं मिल सकता, वहाँ है art of reading. वह स्वर-प्रधान नहीं, व्यंजन-प्रधान है। वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष-गर्ब है। उसका सौंदर्य गाने में नहीं, वार्तालाप करने में है। उसकी सृष्टि कवित्त-छंद से हुई है, जिसे पंतजी विदेशी कहते हैं, जो उनकी समझ में नहीं आया। मेरे—

“देख यह कपोत-कंद—

बाहु-बल्ली—कर-सरोज—

उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—

नितंब-भार—चरण सुकुमार—

गति मंद-मंद,

छूट जाता धैर्य अपि-भुनियों का ;

देवों-योगियों की तो बात ही निराली है ।”

इस छंद को, जिसे मैं हिंदी का मुक्त-काव्य समझता हूँ,
पंतजी ने रवींद्रनाथ को—

“हे सम्राट कवि,

एइ तव हृदयेर छवि,

एइ तव नव भेघदूत,

अपूर्व अद्भुत’—आदि—

पंक्तियों के उद्धरण से बँगला से लिया गया सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह कहते हैं, निरालाजी का यह छंद बँगला के अनुसार चलता है। उनकी यह रवींद्रनाथ के छंद से समता दिखाने का प्रयत्न शायद उनके कृत कार्यों का संस्कार-जन्य फल हो; परंतु वास्तव में इस छंद की स्वच्छंदता उनकी समझ में नहीं आई। यदि वह कवित्त-छंद को कुछ महत्त्व देते, तो शायद समझ भी लेते।

‘देख यह कपोत-कंठ’ के ‘ह’ को निकाल दीजिए। अब देखिए, कवित्त-छंद के एक चरण का एक टुकड़ा बनता है या नहीं। इसी तरह ‘बाहु-बल्ली कर-सरोज’ के ‘र’ को निकालकर देखिए। लिखे हुए संपूर्ण चरणों की धारा कवित्त-छंद की है, नियमों की रक्षा नहीं की गई, न स्वच्छंद छंद में की जा सकती है। कहीं-कहीं बिना किसी प्रकार का परिवर्तन किए ही मेरे मुक्त-काव्य में कवित्त-छंद के बद्ध लक्षण प्रकट हो

जाते हैं। अवश्य इस तरह की लड़ी में जान-बूझकर नहीं रक्खा करता। पंतजी द्वारा उद्धृत मेरे उस अंश की तीसरी लड़ी—
‘उन्नत उरोज पीन’—

इसका प्रमाण है। यदि कोई महाशय यह पूछें कि कहीं-कहीं तो कवित्त-छंद का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, और कहीं-कहीं नहीं हो पाता, ऐसा क्यों?—यह तो छंद की कमजोरी है, ऐसा न होना चाहिए, उत्तर में निवेदन मुझे जो कुछ करना था, एक बार संक्षेप में कर चुका हूँ, यहाँ फिर कहता हूँ। मुक्त-काव्य में बाह्य समता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह में जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्मा को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देखकर ही डर जाते हैं, हृदय खोलकर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं के हृदय की दुर्बलता है। दुःख है, वे जरा देर के लिये भी नहीं सोचते कि संभव है, हमें किसी विशेष कारण-वश इसके साथ मिल न सकते हों—इसे पढ़ न सकते हों। वे तुरंत अपना अज्ञान बेचारे कवि के ललाट पर मढ़ा हुआ देखने लगते हैं। व्यक्तित्व के विचार से अपने व्यक्तित्व का मूल्य कोई भले ही न घटाए, परंतु कवि बेचारे को भी अपनी समझ की तुला पर उतने ही वजन का रखे, निवेदन यह है। अन्यथा

बुद्धि की इकतरफा छिपी देने का उन पर दोष लगता है। मेरे 'अमित्र'जी जो पहलेपहल लोगों से मैत्री नहीं कर सके, इसका मुख्य कारण यही है, उनके हृदय में सहृदयता काफी थी, वेश-बैचित्र्य के होने पर भी, इंगितैर्गत्या, वह अपने ही जान पड़ते थे। पूर्व-कथित कारण के अनुसार, उन्हें देखकर, हमारे कुछ पूज्यपाद आचार्यों ने और कुछ कवि-महोदयों ने अपनी अमूल्य सम्मति की एक कौड़ी भी फिज़ूलखर्च में नहीं जाने दी। गत वर्ष कलकत्ते में हिंदी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त से मुलाकात हुई, और इस अमित्र छंद के संबंध में उनके पूछने पर मेरी ओर से उन्हें जो उत्तर मिला, उनकी उस समय की प्रसन्नता से मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे दो मनुष्यों के हृदय की बातें एक हो गई हों—जैसे मेरे विचार और उनके विचार एक हो गए हों। गुप्तजी ने कहा, मेरा भी यही विश्वास है कि मुक्त-काव्य हिंदी में कवित्त-छंद के आधार पर ही सफल हो सकता है। गुप्तजी द्वारा किया गया वीरांगना-काव्य का अनुवाद जिन दिनों 'सरस्वती' में निकल रहा था, उन, दिनों इस अमित्र छंद की सृष्टि में कर चुका था—मैं कर क्यों चुका था, भाव के आवेश में 'जूही की कली' उन दिनों मेरी कापी में खिल चुकी थी। गुप्तजी के छंद में नियम थे। मैंने देखा, उन नियमों के कारण, उस अनुवाद में बहाव कम था—वह बहाव जैसे नियम के कारण आए हुए कुछ अक्षरों को—उनके बाँध को तोड़कर स्वच्छंद गति से चलने का प्रयास

कर रहा हो—वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—
कुछ अक्षरों के उच्चारण से जिह्वा नाराज हो रही थी।

जिस समय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती'
के संपादक थे, 'जुही की कली' सरस्वती में छापने के लिये
मैंने उनकी सेवा में भेजी थी। उन्होंने उसे वापस करते हुए
पत्र में लिखा—आपके भाव अच्छे हैं, पर छंद अच्छा नहीं,
इस छंद को बदल सकें, तो बदल दीजिए।

मेरे पास उद्यो-की-त्यो वह तीन-चार साल तक पड़ी रही।
फिर संगीतात्मक विषय-सात्रिक गीति-काव्य में मैंने अपनी
'अधिवास' नाम की कविता 'सरस्वती' के वर्तमान संपादक
श्रीपदुमलाल पुत्रालालजी बखशी बी० ए० महोदय के पास
भेजी। पंतजी ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में इसकी भी
आलोचना की है, और इसमें संगीत के रहने के कारण इसे
हिंदी की अपनी वस्तु बतलाया है (कारण, गीति-काव्य उनके
छंदों के प्रवाह से मिलता-जुलता है !)। आस्तु। बखशीजी ने
उस कविता पर यह नोट लिखा—इसके भाव समझ में नहीं
आए, इसलिये सधन्यवाद वापस करता हूँ। यह उस साल
की बात है, जिस साल पहलेपहल बखशीजी 'सरस्वती' के
संपादक हुए थे।

हिंदी-संसार समझ सकता है कि संपादकों की इतनी बारीक
समझ बेचारे नए लेखक और कवि पर क्या काम करती है।
दो वर्ष बाद पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी महाराज ने 'समन्वय'-

वालों से मेरा परिचय कराया। क्रमशः अनुकूल समय के आने पर मैं 'समन्वय' का संपादक (प्रत्यक्ष विचार से सहायक) होकर कलकत्ता गया। हिंदी के साहित्यिकों में मेरे प्रथम मित्र हुए बाबू महादेवप्रसादजी सेठ ('मतवाला' के सुयोग्य संपादक) और बाबू शिवपूजनसहायजी (हिंदी के स्वनामधन्य लेखक)। श्रीमान् सेठजी को मेरी कविता में तत्त्व दिखलाई पड़ा, वह हृदय से उसके प्रशंसक हुए। बाबू शिवपूजनसहायजी ने अपने 'आदर्श' में मेरी 'जुही को कली' को जगह दी, और भावों की प्रशंसा से मुझे उत्साह भी दिया। इसके पश्चात् वही 'अधिवास', जिसे बखशीजी ने न समझ सकने के कारण वापस कर दिया था, सेठजी के कहने पर बाबू शिवपूजनसहायजी ने 'माधुरी' के संपादकों के पास भेज दिया, और 'माधुरी' के उस समय के संपादक श्रीदुलारेलालजी भार्गव और श्रीरूपनारायणजी पांडेय ने उसे 'माधुरी' के मुख-पृष्ठ पर निकाला। यह बात 'माधुरी' के प्रथम वर्ष की है। कलकत्ते में पांडेयजी की कविता-मर्मज्ञता प्रसिद्ध थी। इसीलिये वह कविता उनके पास भेजी गई थी। भार्गवजी भी मेरी कविता के प्रशंसक थे, यह मुझे मालूम हुआ, जब वह कलकत्ता गए। और भी मेरी कई कविताएँ 'माधुरी' में अग्र-पश्चात् निकलीं, परंतु मुझे हिंदी-संसार के सामने लाने का सबसे अधिक श्रेय है सहृदय साहित्यिक, श्रीबालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' के शब्दों में छिपे हुए हीरे, श्रीमहादेवप्रसादजी सेठ को और उनके पत्र

‘मतवाला’ को। मुझे मेरे ‘मास्टर साहब’ हिंदी के वृद्ध केसरी श्रीमान् राधामोहन गोकुलजी ने भी किसीसे कम प्रोत्साहन नहीं दिया।

मेरे विरोध में जो बड़े-बड़े लोग खड़े हुए थे, मैं उनकी चर्चा से अकारण लेख की कलेवर-वृद्धि न करूँगा। इतिहास की दृष्टि से जो कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ, ‘माधुरी’ के पाठकों के सामने उतना ही अंश निवेदन के रूप में रखूँगा।

चिरकाल से बंगाल में रहने के कारण हिंदी और बंगाली की नाट्यशालाओं में अभिनय देखते रहने के मुझे विशेष अवसर मिले। कलकत्ता इन दोनों भाषाओं के रंगमंचों से प्रसिद्ध है। हिंदी के रंगमंचों में अलफ्रेड और कोरिंथियन के नाटकों को देखकर मुझे बड़ा दुःख होता था। उनके नटों के अस्वाभाविक उच्चारण से तबियत घबराने लगती थी। उस समय मैं १६-१७ से अधिक न था। कल्पना की सुदूर भूमि में हिंदी के अभिनय की सफलता पर विचार करते हुए, बोलते हुए, पाठ खेलते हुए, जिस छंद को सृष्टि हुई, वह यही है और पाँखे से विचार करके भी देखा, तो इस स्वभाव-वशा निरखल हृदय की सत्य ज्योति की तरह निकला हुआ पाया। वेदों और उपनिषदों में इसकी पुष्टि के प्रमाण भी अनेक मिले और सबसे प्रधान युक्ति, जिस किसी के सामने मैंने इसे पढ़ा, उसी के हृदय में ‘कुछ है’ के रूप से इसने घर कर लिया। पं० जगन्नाथ-

प्रसादजी चतुर्वेदी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, पं० सकल-नारायणजी शर्मा, पं० चंद्रशेखरजी शास्त्री, इसके उदाहरण हैं। पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज ने भी इसे मेरे मुख से सुना है और उस समय की उनकी प्रसन्नता ने मुझे सफलता का ही विश्वास दिलाया।

यह सब बाहर की बातें हुईं। मेरी आत्मा में तो इसकी सफलता पर इतना दृढ़ विश्वास है, जो किसी तरह भी नहीं दूर हो सकता। एक दिन वह भी था, जब हिंदी-संसार एक तरफ और मैं अपने 'अमित्र' महाशय के साथ एक तरफ था। अब तो उस तरह की शैली में बहुत कुछ दूसरों को भी सफलता मिल गई है।

अस्तु। वेदों और उपनिषदों में इस तरह के अनेक छंद हैं। छंदःशास्त्र का निर्माण भाषा के तैयार हो जाने के पश्चात् हुआ करता है, जैसे बच्चे के पैदा हो जाने के बाद उसका नामकरण। स्वर की बराबर लड़ियों में भी शब्द निकलते हैं और विषम लड़ियों में भी। जैसे आलाप में ताल नहीं होता, राग या रागिनी का चित्र-मात्र देखने और समझने के लिये सामने आता है, उसी तरह मुक्त-काव्य में स्वर का संयम नहीं देख पड़ता—स्वर की लड़ी बराबर नहीं मिलती, कविता की केवल मूर्ति सामने आती है। राग या रागिनी जब सीमा के अंदर, बजानेवाले की सुविधा के लिये, बाँधी जाती है, तब ताल में उसके बाँधे रूप का लाक्षणिक

रहता है—जैसे एक ही विहंग की वन में स्वाधीन वृत्तियाँ और पीजड़े में ससीम चेष्टाएँ ।

बेदिक छंद, अतिछंद और विच्छंद को बहु भेदों में बाँटकर भी कोई उनके सब छंदों के नामकरण नहीं कर सका । अंत में अनंत भेद (!) मान लिए गए । ठीक ही है, जब सृष्टि में भी 'अगणित' दिखलाई पड़ा, तब गिनने की धृष्टता समझ में आ गई ।

इसी तरह मेरे मुक्त काव्य में गिनने की धृष्टता नहीं की जा सकती । केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कवित्त-छंद हिंदी का चूँकि जातीय छंद है, इसलिये जातीय मुक्त छंद की सृष्टि भी कवित्त-छंद की गति के अनुकूल हुई है ।

ब्रजभाषा के संबंध में पंतजी लिखते हैं—“हिंदी न अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है । उसका किशोर कंठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छँट गए, उनकी अप्रष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई ; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया ; पदों को चंचलता दृष्टि में आ गई ; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं ; ज्ञान की परिधि बढ़ गई ; × × × × विश्व-जननी प्रकृति ने उसके भाल में स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है । × × × मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्ष की वृद्धा के शब्द विलकुल रक्त-मांस-हीन लगते हैं ; जैसे भारती की वीणा की मंकारें बीमार

पड़ गईं हैं, उसके उपवन के लहलहं फूल मुरझा गए हैं; जैसे साहित्यकाश का 'तरणि' प्रहण लग जाने से निष्पन्न 'तरनि' बन गया हो; भाषा के प्राण चिरकाल से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्राण' कहे जाने योग्य रह गए हैं
 × × × × और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन विद्याली विद्या हुआ, दोनों के रहने योग्य; जैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी—'कहल', 'लहल', 'हरहु', 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह को पेशियाँ ठिठुर गईं हैं, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो; पर यह सब खड़ी बोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।"

खड़ी बोली और ब्रजभाषा पर पंतजी ने अपनी कविता की भाषा में जो आलोचना की है, उसमें उन्होंने अपने ही भावों पर जोर दिया है, इसलिये उनके विचारों से अपना एक पृथक् विचार रखने पर भी मैं उन्हें विशेष कुछ कहने का अधिकारी नहीं रह जाता। सत्य-विवेचन की दृष्टि से ही मैं यहाँ ब्रजभाषा के संबंध में विचार करूँगा।

पंतजी की तरह मेरा भी खड़ी बोली से प्रेम-संबंध घनिष्ठ है। परंतु जब भाषा-विज्ञान का प्रश्न सामने आता है, उस समय कुछ काल के लिये विवश होकर प्रेम-संबंध से अलग, न्यायानुकूल विचार करना पड़ता है। संस्कृत का 'धर्म'

जब पाली में 'धम्म' बन गया, उस समय 'धर्म' की अपेक्षा 'धम्म' में ही लोगों को अधिक आनंद मिलता था। इधर 'धर्म' से 'धरम' का भी यही हाल रहा। स्वेच्छानुवर्ती कवियों ने किसी भी काल में नियमों की परवा नहीं की। वे अपनी आत्मा के अनुशासन के अनुसार ही चलते गए। कुछ लोगों का कहना है कि समाज ज्यों-ज्यों मूर्ख होता गया, अपभ्रष्ट शब्दों की संख्या भी त्यों-त्यों दिन दूनी और रात चौगुनी को कहावत के अनुसार बढ़ती गई। क्रमशः भाषा भी एक रूप से दूसरे रूप में बदलती चली गई। मैं यहाँ इस भीमांसा से प्राणों की सहृदयता की सीमांसा अधिक पसंद करता हूँ। ग़रे विचार से आचिरता को गोद में प्रचलित शब्दों की भी समाधि होती है—कुछ ही काल तक किसी प्रचलित शब्द को मनुष्य-समाज के अधर धारण करते हैं। फिर उसके परिवर्तित रूप से ही उनका स्नेह अधिक हो जाता है। अथवा उस शब्द का अपर-रूप-धारण प्रेम के कारण ही हुआ करता है।

कारीगरी के विचार से ब्रजभाषा-काल में शब्दों की जो द्वाज-बोन हुई है, जिस-जिस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, भाषा विज्ञान उन्हें बहुत ही ऊँचे आसन पर स्थापित करता है। सहृदयता उनकी व्याख्या में अपने हृदय का रस निःशेष कर देती है। खड़ी बोली की विभक्तियाँ—को, के लिये, से, का, के आदि ब्रजभाषा का हिं, कों, सें, सों, कँहँ

आदि से समता की स्पर्धा नहीं कर सकती। खड़ी बोली में एक ही विभक्ति मधुर है—‘में’, परंतु वह भी ब्रजभाषा की ‘मैं’ की श्रुति-सरसता से फीकी पड़ जाती है। ब्रजभाषा में की मणि से जैसा सौंदर्य का उज्ज्वल गौरव खड़ी बोली में नहीं मिल सकता। पश्चिमी भाषाओं में फ्रेंच की विजय और स्पर्धा इसीलिये है। संस्कृत में भी इसके चढ़ाव से श्री भरो हुई है। उधर ब्रजभाषा ने अपनी क्रियाओं के रूपों में भी यथेष्ट श्रुति-कोमलता ला दिखलाई है। ‘लाभ करते’ की तुलना में ‘लहत’, ‘मुड़ते’ की तुलना में ‘मुरत’, ‘पाते’ की अपेक्षा ‘पावत’ विशेष श्रुति-मधुर हैं। सारांश यह कि ब्रजभाषा एक समय जीवित भाषा रह चुकी है और यों तो अब भी वह जीवित ही है, परंतु खड़ी बोली इस समय भी हिंदी-भाषा का मातृ-गौरव नहीं प्राप्त कर सकी। पंतजी यदि खड़ी बोली में ही विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, तो इससे बढ़कर हर्ष की बात और क्या हो सकेगी। परंतु जहाँ वह रहते हैं, अल्मोड़े के उन देहाल-वासियों के साथ, अवश्य ही, उन्हें, वहाँ को ही प्रचलित भाषा में बातचीत करनी पड़ती होगी, और, यदि अपनी उस जातीय भाषा से, खड़ी बोली के प्रति विशेष प्रेम के कारण, चार्तालाप करते समय, वह कुछ भी विराग दिखलाते होंगे, तो निस्संदेह युक्ति के अनुसार, वहाँ के अधिवासियों के साथ अपने प्राणों की सोलहो आने सहृदयता से मिल भी न सकते होंगे। भविष्य में, दो-चार

पीढ़ियों के बाद, शिक्षित-समुदाय की एक भाषा अलग हो जाय, यह बात और है। और, जो लोग मेरठ-सरौडिंग की भाषा के साथ हिंदी में प्रचलित वर्तमान भाषा-साहित्य को एक कर देने के प्रयत्न में रहते हैं, उनसे तो अकेले (हिंदी) कविता-कौमुदीकार ही अच्छे, जिन्होंने हिंदी की प्रथम सृष्टि से अब तक का क्रम किसी तरह नहीं विगड़ने दिया। ब्रज-भाषावालों के शब्दों और क्रियाओं के परिवर्तित रूप तो पंतजी को जाड़े की कुकुर-कुंडलीयत् सिक्नुड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं, और स्वयं जो खड़ी बोली के चिर-प्रचलित 'भौंह'-शब्द को 'आंह' कर देते हैं, कहते हैं, वह सुंदर बन जाता है।

बात यह कि आज किसी प्रांतीय भाषा के साथ अपने हृदय की पूर्णता और उज्ज्वल उत्कर्ष पर विश्वास रखकर वार्तालाप करने की शक्ति, हिंदी के प्रचलित दो रूपों में, यदि किसी में है, तो ब्रजभाषा में। ब्रजभाषा का प्रभाव बंगाल के प्रथम वैष्णव कवियों पर भी पड़ा और इधर सुदूर गुजरात तक फैला। उद्गरणों से लेख की कलेवर-वृद्धि का भय है। इसलिये ब्रजभाषा का भाषा वैज्ञानिक विस्तृत विवेचन, समय मिला, तो कभी फिर करूँगा।

अब आजकल के प्रचलित विश्ववाद पर विचार होना चाहिए। पंतजी लिखते हैं—“अधिकांश भक्त कवियों का संपूर्ण जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे

पर रहे, कुछ उसी में बह गए; बड़े परिश्रम से कोई पार भा गए, तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई। × × × कठिन काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडुगन केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, वेनी, रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिनका विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिकतर वही कदली के स्तंभ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चंद्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह भरना, रोमांचित होना, दूत भोजना, कराहना, मूर्च्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना—बस इसके सिवा और कुछ नहीं! सबकी बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारों में फूट रहा है; सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक संग रपट पड़ती, कभी नीर-भरी गगरी ढरका देती है! × × × उसका (ब्रजभाषा का) वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्ध; जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अंधकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, द्वीप-उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौंदर्य, × × × सब कुछ समा सके।”

जिनके संस्कार बहुत कुछ अंगरेजी-कविता के साँचे में ढल जाते हैं, उन्हें ब्रजभाषा की कविता पसंद नहीं आती, यह

बहुत ठीक है। परंतु यह भी बहुत ठीक है कि पंतजी ने ब्रज-भाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कटाक्ष किया है, वह कुछ ही अंशों में सत्य है।

आजकल के शिक्षित लोग यह समझते हैं कि वे पहले से इस समय ज्ञान की ऊँची भूमि पर विचरण कर रहे हैं। पहले तो यह ज्ञान ही मेट देता है। इसके पश्चात् गौरांगों की उज्ज्वल अँगरेजी, गौरांगों का गुरुत्व और कृष्णांगों पर गौरांगों का आध्य और उस आध्य पर कृष्णांग वालकों का विश्वास।

भारत-भारती के एक पद्य में है, अच्छा लिखा है दो ही लाइन में कि जिस समय से भारत के पतन का अंधकार घनतर होता गया, दूसरे देशों विशेष रूप से पश्चिम की उन्नति का क्रम उसी समय से दिखलाई पड़ता है। इसलिये भारत की उन्नति के समय का अनुमान करना कठिन है। अपने समय का श्रेष्ठ अँगरेज विद्वान् मैक्समूलर, प्राचीन भारत के कल्पना-लोक में विचरण करते रहने के कारण, नवीन भारत के विकृत रूप को देखने का साहस नहीं कर सका। बार-बार उसने अपनी भारत-दर्शन की लालसा रोकी।

ऐसे भारत की कविता में भी एक विचित्र तत्व है। थोड़ी देर के लिये ब्रजभाषा को जाने दीजिए, संस्कृत को लीजिए। और ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों को दुनाली बंदूक के सामने रखकर भी जरा सुन लीजिए। संस्कृत-काल के व्यास और शुक-देव प्रसिद्ध ऋषि हैं। शुकदेव की जीवनी किसी भारतीय से

अविदित न होगे। इन दोनों महापुरुषों का स्मरण कर भागवत भी देखिए। देखिए, एक ओर कवि के गहन वैदांतिक विचार और दूसरी ओर गोपियों के शृंगार-वर्णन में अश्लीलता की हद, जैसा कि आजकल के विद्वान् कहेंगे। उधर गीत-गोविंद के प्रणेता भी कितने बड़े वैष्णव और भक्त थे, यह किसी पढ़े-लिखे महाशय से छिपा नहीं है। उनके भी—

“गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युगशाली—

धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति घने वनमाली”—

अथि प्रिये, “मुंच मथि मानमनिदानम्”—आदि देखिए।

और इधर फिर विद्यापति, जिनके—

“चरन - चपल - गति लोचन नेल”

“चरन - चपलता लोचन नेल”

का लोभ पंखजी संवरण नहीं कर सके, और अपने गद्य में भी—

“पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई” द्वारा भावानुसरण की चेष्टा की, वह विद्यापति भी प्रसिद्ध चरित्रवान् थे, नौकर के रूप से रहकर जिन्हें भगवान् विश्वनाथ ने दर्शन देने की कृपा की। आजकल की प्रचलित अश्लीलता का प्रसंग सामने आने पर शायद वह अपने किसी भी समानधर्मा से घटकर न होंगे—

“दिन-दिन पयोधर भै गेल पीन ;

बादल नितंब माक भेल खीन ।”

“थरथरि काँपल लहु लहु भास ;

लाजे न बचन करए परकास ।”

“नीबिबंधन हरि काहे कर दूर ;

एहो पै तोहार मनोरथ पूर ।” आदि-आदि

अश्लील-से-अश्लील वर्णन उन्होंने किए हैं। यही हाल बँगला के प्रथम और सर्वमान्य कवि चंडिदास का रहा, जिन्हें देवी के साक्षात् दर्शन हुए और कृष्ण की मधुर-रस से उपासना करने की, देवी के आचरण से, जिनकी प्रवृत्ति हुई—अवश्य औरों की तरह वह अश्लील नहीं हो सके। इधर ब्रजभाषा में भी यही दशा रही। संस्कृत के प्रसिद्ध श्रीहर्ष और कालिदास का तो जिक्र ही नहीं किया गया।

भारतवर्ष और योरप की भावना की भूमि एक होने पर भी दोनों की भावनाओं के प्रसरण का ढंग अलग-अलग है। रवीन्द्रनाथ की युक्ति के अनुसार योरप की कविता के सितार में, बोलवाले तार की अपेक्षा स्वर भरनेवाले तारों की फनकार ज्यादा रहती है। परंतु भारतवर्ष में विशेष ध्यान रस-पुष्टि की ओर रहने के कारण प्राणों का संचार कविता में अधिक देख पड़ता है। यहाँ के कवि व्यर्थ की बकवास नहीं करते। यहाँ-वहाँ के उपमान-उपमेयों का ढंग भी जुदा-जुदा है। यहाँ की उपमा जितना जुभती है, वहाँ को उपमा उतना धाव नहीं कर सकती। यहाँ प्रेम है, वहाँ मादकता। यहाँ देवी शक्ति है और वहाँ आसुरी ; इसलिये यहाँ की कविता में

एक प्रकार की शक्ति रहती है और वहाँ की कविता में प्रगल्भता। यदि तुलसी-कृत रामायण का अनुवाद किसी विद्वान् अँगरेज के सामने रख दिया जाय, तो शायद ही श्रीगोस्वामीजी की कविता में उसे कोई कला (art) दिखलाई पड़े। बल्कि मैं तो गोस्वामीजी को महासौभाग्यवान् समझूँ, यदि उनके लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता और भरत के चरित्र-चित्रण को देखकर, वह उन्हें हाल ही दस लगाकर लौटा हुआ सिद्ध करने से शांत रहे। विभीषण से वह कितना प्रसन्न होगा, आप सहज ही अनुमान कर सकते हैं। एशिया के कवियों में उमरखैयाम की योरप में अधिक प्रशंसा होने का कारण जितना उसकी कविता नहीं, उससे अधिक उसके उपकरण, शराब, कवाच, नायिका आर निर्जन हैं। ब्रजभाषा की कविता का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं, रहा आह भरना, कटाह करना और नीर-भरी गगरी ढरकाना, सो मानवीय सृष्टि में शृंगार का परिपाक नायिकाओं के इन्हीं व्यवहारों, इन्हीं आचरणों, सामाजिक इन्हीं नियमों के आश्रय से हो सकता है। न ब्रजभाषा-काल में अँगरेजी सभ्यता का प्रकोप भारतवर्ष में हुआ, न गद्य के चित्रण में आर्ट (art) दिखलाने की कवियों को जरूरत मालूम पड़ी। यह मैं मानता हूँ कि मानवीय सृष्टि में उस समय अश्लीलता की हद कुछ अधिक हो गई थी, मनुष्यों के नैतिक पतन के कारण।

परंतु मियाँ की दौड़ मसजिद तक के अनुसार, ब्रजभाषा के कवियों पर वृंदावन, गोकुल, मथुरा और नंदगाँव के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहने का जो लांछन लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण यह नहीं कि वे राष्ट्र के अष्टावक्र वाद-बिवाद से अनभिज्ञ थे। ब्रजभाषा के एक भूषण ने भारतीय राष्ट्र के लिये जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर तीन सौ वर्ष के अंदर समग्र भारतवर्ष में अपनी कवित्व-प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। प्रचलित रीतियों और अपने जातीय मेरुपूल-धर्म-भावों से प्रेरित होकर एक कृष्ण की ही उन लोगों ने अपनी रस-सृष्टि का मूलाधार-स्वरूप ग्रहण किया, और स्मरण रहे, कृष्ण वह हैं, जिनके पेट में चौदहों भुवन—एक यह पृथ्वी या केवल योरप नहीं—चौदहों भुवन समाए हुए हैं। सर जगदीशचंद्र को जिस दिन एक घाँवे में एक वीक्षण-यंत्र द्वारा आश्चर्य कर अनेक विषय—अनेक सृष्टियाँ दिखलाई पड़ी थीं, उस दिन भारत के महर्षियों के मानसिक विश्लेषण पर श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था, जो चाहता है, यह सब वैज्ञानिक विश्लेषण-कार्य छोड़ दूँ, अपने ऋषियों के गौरव को पूजा करूँ। कृष्ण की गोपियों के साथ जो मधुर रसोपासना हुई थी, स्वामी विवेकानंदजी उसके संबंध में कहते हैं, वह इतने उच्च भावों की है कि जब तक चरित्र में कोई शुकदेव न होगा, तब तक आकृष्ण की रासलीला के समझने का अधिकारी वह नहीं हो सकता।

कृष्ण का महान् त्याग, उज्ज्वल प्रेम, गीता में सर्वधर्म-समन्वय, भारत का सर्वमान्य नेतृत्व, भारतवासियों के हृदय में स्वभावतः पुष्प-चंदन से अर्चित हुआ और वृंदावन का क्रतरा ब्रजभाषा के कवियों को दरिया नज़र आया। वासनावाले कवियों ने श्रीकृष्ण की वर्णना में ही अपने हृदय का ज़ाहर निकाला—इस तरह जहाँ तक हो सका, अपने धर्म को ही वासना से अधिक महत्त्व दिया। कुछ लोगों ने राजों-महाराजों और अपने प्रेम-पात्रों पर भी कविताएँ लिखीं।

एक दिन मैं अपने मित्र श्रीशिवशेखर द्विवेदी को, जब वह हिंदी की मध्यमा-परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, सूर की पदावली का एक पद पढ़ा रहा था। इस समय मेरे पास वह पुस्तक नहीं, न वह पद मुझे याद है। अंतिम लड़ी उस पद की शायद यों है—“समभक्त्यो सूर सकट पशु पेलत।” इस पद के पढ़ाते समय दर्शन-शास्त्र की सर्वोच्च युक्ति मुझे उसमें दिखलाई पड़ी। उस पद में कहा गया है, बालक श्रीकृष्ण अपना अँगूठा मुँह में डाल रहे हैं और इससे तमाम ब्रह्मांड डोल रहा है—दिग्दंती अपने दाँतों से दृढ़ता-पूर्वक धरा-भार के धारण का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पंक्तियों में भक्तराज श्रीसूरदासजी का अभिप्राय यह है कि किसी एक केंद्र के चेतन-स्वरूप से तमाम संसार, संपूर्ण विश्व-ब्रह्मांड के प्राणी गुँथे हुए हैं, इसलिये उसके हिलने से यह सौर-संसार भी हिलता है। दिग्गजों और शेषजी को धारण करने

की शक्ति दी गई है, ताकि प्रलय न हो जाय। इसलिये श्रीकृष्ण की मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा से हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणा-शक्ति से बार-बार धारण करते हैं। इस चेतन के कंपन-गुण से कहीं-कहीं खंड-प्रलय हो भी जाता है। अस्तु, भारतीय विश्ववाद इस प्रकार का चेतनवाद है, जिसमें अगणित सौर-संसार अपने सृष्टि-नियमों के चक्र से विवर्तित होते जा रहे हैं। सूर ने चेतन की यह क्रिया समझी, इसीलिये “सकट पगु पेलत”—धीरे-धीरे चल रहे हैं—स्थिर होकर क्रमशः चेतन-समाधि में मग्न होने की चेष्टा कर रहे हैं—साधना कर रहे हैं। हर एक केंद्र में वह चेतन-स्वरूप, वह आत्मा, वह विभु मौजूद है। सूर ने कृष्ण के ही उज्ज्वल केंद्र को ग्रहण किया। तुलसी ने श्रीरामचंद्र के केंद्र को और कबीर ने निर्गुण आत्मा को—बिना केंद्र के केंद्र को। भारत के सिद्धांत से यथार्थ विश्व-कवि यही हैं—कबीर, सूर और तुलसी—जैसे महाशक्ति के आधार-स्तंभ। तुलसी भी—“उदर साँझ सुनु अंडज राया; देख्यो बहु ब्रह्मांड निकाया” से अगणित विश्व की वर्णना कर जाते हैं, और यह भ्रम नहीं—वह जोर देकर कहते हैं—“यह सब मैं निज नयनन देखा।” भारत का विश्ववाद इस प्रकार है। भारत के विश्व-कवि जड़ विश्व की धूल पाठकों पर नहीं भोंकते—वह ब्रह्मांडमय चेतन का अंजन उनकी आँखों में लगाते हैं। रवींद्रनाथ का विश्ववाद योरप के सिद्धांत के

अनुकूल है, और उनके ब्राह्मसमाजी होने के कारण, उनका विश्ववाद उपनिषदों से भी संबन्ध रखता है। रवीन्द्रनाथ का 'विश्व'-प्रयोग अर्थ की दृष्टि से कदर्थ की सृष्टि नहीं करता। परंतु पंतजी "विश्व-कामिनी को पावन छवि मुझे दिखाओ करुणाधान" से, 'विश्व'-शब्द-मात्र से लोगों की नजर बाँधने की लालसा रखनेवाले जान पड़ते हैं, और अर्थ की तरफ से वही—“अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः।” पंतजी की 'विश्व-कामिनी' यदि "विश्व ही कामिनी = कर्मधारय" है, तो कोई सार्थकता नहीं दिखलाती, और यदि "विश्व की कामिनी = छटा तत्पुरुष" है, तो भी कोई अर्थ नहीं देती; विश्व में जितनी कामिनियाँ हैं, सब किसी-न-किसी देश की, किसी-न-किसी समाज ही की हैं, इस तरह सब एकदेशीया हुई, व्यापक विश्व की कामिनी किस तरह की होगी, यह पंतजी ही बतलाएँ।

वर्तमान विश्ववाद ब्रजभाषा और भारतवर्ष की तमाम भाषाओं के कवियों में चेतनवाद या वेदांतवेद्य अनंतवाद के रूप में मिलता है। जो लोग यह समझते हैं कि भारत-वर्ष के पिछले दिनों में लोगों की बुद्धि संकुचित हो गई थी, और पंतजी के शब्दों में यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि ब्रजभाषा में कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः अन्यान्य और सब कवि एक साधारण सीमा के अंदर ही तेली के बेल की तरह अंध चक्कर काटते चले गए हैं, वे वास्तव में राजती

करते हैं। मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष की उदारता, उसका विशाल हृदय, मुसलमानों से लड़ते-लड़ते प्रतिघातों के फल से धार्मिक संकीर्णता में सृष्टु-स्पंदित होने लगा था, और उसकी व्यावहारिक पहली विशालता चौके के अंदर आ गई थी। परंतु दार्शनिक लोम-विलोम के विचार से बाहरी आसुरी दबाव के कारण भारतीय दिव्य प्राकृतिवाले मनुष्यों का इतना संकुचित हो जाना स्वाभाविक सत्य का ही परिचायक सिद्ध होता है। हरएक मनुष्य, हरएक प्रकृति, हरएक जाति, हरएक देश दबाव से संकोच-रूप धारण करता है। ब्रज-भाषा-काल में इस दबाव का प्रभाव जातीय साहित्य में भी पड़ा, और उस काल की हमारी हार हमारी संकुचित वृत्ति का यथेष्ट परिचय देती है, यह सब ठीक है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि वह दबाव आवश्यक था जाति को संकुचित करके उसे शक्तिशाली सिद्ध करने के लिये—शेर जब शिकार पर दूटता है, तब पहले, उसकी तमाम वृत्तियाँ—तमाम शरीर सिकुड़ जाता है, और इस संकोच से ही उसमें दूर तक छल्लाँग भरने की शक्ति आती है। ब्रज-भाषा-काल का जातीय संकोच जिस तरह देखने के लिये बहुत छोटा है, उसी तरह उसने छल्लाँग भी भराई उससे बहुत लंबी—धर्म के नाम पर इस काल के इतना त्याग शायद ही भारतवर्ष ने दिखाया हो—“Either sword or Quran”-वाले धर्म के सामने हर्ष-विषाद-रहित हो जाति के धीरों ने अपने धर्म-गर्वोन्नत मस्तकों की भेटें चढ़ाई—

शक-दो नहीं—अगणित सोताएँ और सावित्रियाँ पैदा होकर अपने उज्ज्वल सतीत्व का जौहर दिखलाती गईं—उस संकोच के भीतर से करोड़ों शेर कूदे, आज जिनकी वीरता ब्रज-भाषा-काल के साहित्य के पृष्ठों में नहीं—चारणों के मुखों में प्रतिध्वनित हो रही हैं, जैसे उस समय की सीमा को वे वीर एक ही छल्लों से पार कर गए, और अपने भविष्य-वंशजों के पंरों में एक छोटी-सी बेड़ी डाल गए—भविष्य के सुधार की आशा से। आजकल के साहित्यिक चीत्कार इसी बेड़ी के तोड़ने के लिये हो रहे हैं—धार्मिक, सामाजिक और नैतिक नादों के साथ-साथ।

जिस तरह धार्मिक छल्लों भरी गई, उसी तरह साहित्यिक भी—हमेशा ध्यान रक्खा गया, एक पद्य के अंदर—एक छोटी-सी सीमा में भावों की विशालता ला दी जाय। मथुरा-ब्रज-गोकुल और द्वारिका की छोटी-सी सीमा में पंतजी अकारण भटकते हैं—यह तो कथियों की, भावों के दिव्य-आधार कृष्ण पर की गई, प्रीति है—आप भाव ग्रहण कीजिए, 'श्याम' के नाम से न घबराइए—बड़ा-सा दृश्य चाहते हैं आप ?—लीजिए—

“सावन-बहार भूलै घन की घुमंड पर,

घन की घुमंड पौन चंचला के दोले पै ;

चंचला हू भूलै घन सेवक अकास पर,

भूलत अकास लाज-हौसले के दोले पै ।”

लाज और हौसले के टोले में आकाश भूलता है—समाज और हौसले के आनंद के कंपन से तमाम प्रकृति—तमाम आकाश के परमाणु आनंद से काँपते हैं—देखिए चेतन—देखिए सौंदर्य की दिव्य मूर्ति—देखिए आकाश-जैसे बड़े को लाज-जैसी छोटी-सी सखी के टोले में झुला दिया—कितने बड़े को कितने छोटे में।

नारियों या नायिकाओं के भेद, रसों के भेद, अलंकारों—भूषणों के भेद, छंदों के भेद, ध्वनियों की परख, कविता-साहित्य का विश्लेषण जहाँ तक हो सकता है—आर्य-भाषाओं के किए हुए उन उपायों के अनुसार, ब्रज-भाषा के काव्य-साहित्य ने सब भेदों पर लिखा, और खूब लिखा। क्या कविता-साहित्य का इतना सुंदर विश्लेषण संसार की किसी आर्यतर भाषा ने किया ? पंतजी, क्या आप शराव, कवान और बगल में बीबी-वाले कवियों को अश्लील न कहेंगे ? यदि कहते हैं, तो योरप का एक प्रसिद्ध कवि निकालिए, जो इन दुर्गुणों से बचा हो, और शृंगार की कविता में बाजी मार ले गया हो। ब्रज-भाषावालों ने तो फिर भी कृष्ण-जैसे शृंगार-रस के महापुरुष की आड़ में—उस मदन को मूर्च्छित कर देनेवाले कामजित् आदर्श को शरण में अपनी वासनाओं को चरितार्थ किया—यह क्या योरप की कविता के बालडांस से भी गया-बहा हो गया ?

योरप की कविता के जो अच्छे गुण हैं, मैं उनका हृदय से भक्त हूँ, उनकी वर्णनाशक्ति स्वीकार करता हूँ, परंतु

यह उन्हीं की दृष्टि से, तुलनात्मक समालोचना द्वारा नहीं। जिस दिन हिंदोस्तान में अपने पैरों खड़े होने की शक्ति आयगी—वह स्वाधीन होगा—उस दिन तक योरप के इन भावों को क्या दशा रहती है, हम लोग दस-बीस जीवन के बाद देखेंगे। दुःख है, उस समय मुझे और पंतजी को आलोचना की ये बातें याद न रहेंगी। ब्रज-भाषा के पद्य की अनेक बातें, अनेक उदाहरण, प्रासंगिक होने पर भी, लेख-वृद्धि के भय से छोड़ दिए गए। मैं यहाँ केवल इतना ही कहूँगा कि ब्रज-भाषा के कवियों ने सौंदर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद ही कोई सौंदर्य उनसे छूटा हो—शायद ही किसी दूसरी जाति ने अपने सुख के दिन इतनी आवारगी में बिताए हों और वह जाति जाग्रत होने के बदले काल के गर्भ में चिरकाल के लिये विलीन न हो गई हो।

शब्दों के चित्र पर अब कुछ लिखना आवश्यक है। पंतजी लिखते हैं—“हिलोर’ में उठान, ‘लहर’ में सलिल के बलःस्थल की कोमल-कंपन, ‘तरंग’ में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिरना, ‘बढ़ो-बढ़ो’ कहने का शब्द मिलता है; ‘वीचि’ से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हंसमुख लहरियों का, ‘ऊर्मि’ से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाढ़ें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। ‘पंख’-शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान

के लिये भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अँगरेजी का (wing) जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श' जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रज-भाषा के परस में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनंद का विद्युत्-स्फुरन प्रकट होता है। अँगरेजी के 'air' में एक प्रकार की transparency मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखलाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फाँटे की तरह खिंचकर, फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभंजन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्रों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती; 'पवन'-शब्द मुझे ऐसा लगता है, जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दोवारों से घिरसा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।'

पंतजी की इस छान-बीन का ही फल है कि उनके तपे हुए हृदय के श्वेतकमल पर कविता की ज्योतिर्मयी मूर्ति खड़ी

हुई। उनकी दृष्टि की तृष्णा आकर इस व्याख्या से बहुत अच्छी तरह प्रकट हो रही है। रूप का अन्वेषण करती हुई उसने अरण्य, पर्वत, खोह और कंदराएँ कुछ भी नहीं छोड़ा। शब्दों के रूपों को उनकी दृष्टि की करुण प्रार्थना से आना ही पड़ा। उनके स्वर के प्राणायाम ने आकर्षण-मंत्र सिद्ध कर दिखाया। उनकी दृष्टि ने शब्दों के रूपों का अमृत पिया।

परंतु यहाँ भी भारतीय शब्दों की भारतीय व्याख्या उनके इस अन्वेषण से प्रतिकूल चल रही है। बँगला के रवींद्रनाथ और अंगरेजी के शेली पंतजी की व्याख्या से, अपने दल की पुष्टि के विचार से प्रसन्न होंगे। परंतु भारतवर्ष के आचार्य और कवि नाराज होंगे। इसी विषय पर यहाँ के आचार्यों ने दूसरी तरह से व्याख्या की है। पंतजी की व्याख्या से जाहिर है, उनका मुकाब अँगरेजी-शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है और यह प्रयत्न ऐसा है, जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अँगरेजी देवाओं के अनुकूल करना।

भारतवर्ष के शब्दों के चित्र पहले से तैयार किए हुए हैं। धातु-रूप से उनके चित्र निकाले जा चुके हैं। जैसा पंतजी कहते हैं, touch में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती; वहाँ एक विशेष बात है, जिसकी ओर, अपने संस्कारों के वश, पंतजी ध्यान नहीं दे सके। touch के छूने की क्रिया पर विचार कीजिए, 'ठ' से जीभ मूर्द्धा स्पर्श करती है, फिर 'अच्' (ouch) से स्वर-वायु भीतर से निकलकर जैसे बाहर

की किसी वस्तु को छू जाती हो, इस तरह 'touch' से स्पर्श की क्रिया उच्चारण द्वारा होती है। 'स्पर्श' में जो छूने की क्रिया है, वह 'touch' से और सुंदर और मधुर है। यों तो यहाँवाले 'स्पृश' का ही अपभ्रष्ट रूप 'touch' (टच् या टश्) हुआ है, कहेंगे। 'स्पर्श' की 'स्पृश'-धातु की क्रिया देखिए— 'स्' दंतों को स्पर्श कर, 'प' द्वारा आँधों को—शरीर के सबसे अंतिम उच्चारण-स्थल तक पहुँचकर—स्पर्श करता है, फिर 'ऋ' द्वारा स्वर-शक्ति अंतर्मुखी होती है, जैसे उस स्पर्श का संवाद देने के लिये, 'श' से तालु स्पर्श करती हुई 'स्पर्श' की कोमलता का अनुभव करा जाती है—तालु से उच्चरित होनेवाले अक्षर कोमल हैं। पंतजी जो यह लिखते हैं कि 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच होता है, उसका चित्र है, यह विचार वह वहिर्दृष्टि से कर रहे हैं—उनका यह स्पर्श बाहर से होता है, जो भारतीय शब्दों की विचारणा-प्रणाली की अनुकूलता नहीं करता। 'touch' के समर्थन से उनके विचार बाह्य हो जाते हैं—'touch' से बाहर की वस्तु के छूने की क्रिया होती है। चूँकि भारतीय समस्त विचार अंतरात्मा से संबंध रखनेवाले अंतरात्मा को ही रूप, रस, गंध और शब्द-स्पर्श से सुखी करनेवाले होते हैं, इसलिये 'स्पर्श' होठों से बाहर नहीं जा सका, जैसे सब क्रिया अपने ही भीतर हुई, और उसका फल भी अपने ही भीतर मिल गया। पंतजी का 'touch' का विचार भी बाह्य है और 'स्पर्श' का

भी। अंत में जो वह कहते हैं, 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, यह सिर्फ खयाल है।

गोस्वामी तुलसीदासजी का एक उदाहरण पंतजी ने भी दिया है—

“घन घसंड गरजत नभ घोरा।”

इन शब्दों में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो अपना विशेष अर्थ न रखता हो। इन तमाम शब्दों के एक साथ उच्चारण से वादलों की गर्जना जैसे हो रही हो—ग. घ. ड. भ. का कोई-न-कोई अत्येक शब्द में आया है। फिर—

“प्रिय-विहीन डरपत जिय मोरा।”

प्रिया के वियोग से क्षीण प्रियतम के हृदय का भय 'डर-पत' क्रिया के चित्र-फल से प्रकट किया गया। एक ओर मेघों में प्रकृति का उत्कट उत्पात, दूसरी ओर विरह-कृश पति के हृदय में भय, घबराहट। एक ओर विराट्, दूसरी ओर स्वराट्। एक ओर उत्पात, दूसरी ओर उसकी क्रिया। एक ओर कठोर, दूसरी ओर करुण, कितना सुंदर निवाह है।

इस प्रसंग में मैं और अधिक उद्धरण न दूंगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ, यहाँ के शब्दों से, यहीं के प्रचलित अर्थ के अनुकूल, काम लेना ठीक है। पंतजी अपनी कल्पना में पड़कर कितना बड़ा अनर्थ करते हैं, देखें—

“इमें उड़ा ले जाता जब हुत दल-बल-युत घुस वासुल-चोर”

अपनी इन पंक्तियों के संबंध में पंतजी लिखते हैं—

“इसमें लघु अक्षरों की आवृत्ति ही वातुल-चोर के दल-बल-युत घुसने के लिये मार्ग बनाती है।

पहला एतराज यह कि दल-बल-युत आदि शब्दों की आवृत्ति यदि घुसने के लिये मार्ग बनाती है, तो सफरमैना की पलटन की तरह वह अर्थ की लड़ाई में काम भी न देती होगी। तुलसीदासजी की उद्धृत चौपाइयों में देखा गया—शब्द गरजते और काँपते हैं, और अपने अर्थ के फाटक की रक्षा भी करते हैं।

दूसरा यह कि चोर यदि वातुल है, वात-ग्रस्त है, पागल है, तो उड़ा ले जाने की बुद्धि से रहित है, क्योंकि विकृत-मस्तिष्क है।

तीसरा यह कि मेघ को उड़ाने का कार्य वायु ही करता है, बिना किसी सहायक के अकेला। यदि उसके इस उड़ाने के कार्य में और-और सहायक आते हैं, जिससे ‘दल-बल-युत’ के अर्थ की पुष्टि होती है, तो पंतजी बतलाएँ, उसके ये सहायक और कौन-कौन-से हैं।

चौथा यह कि यदि ‘वात-चोर’ के कर्मधारय का रूप ‘वातुल-चोर’ बना है—‘वात’-शब्द विशेषण के रूप में ‘वातुल’ कर दिया गया है, तो यह भारतवर्ष के किस प्रदेश के व्याकरण के अनुसार सिद्ध होगा, जिससे हमें विश्वास हो जाय, ‘वातुल-चोर’ द्वारा वात या वायु के चोर होने का अर्थ सिद्ध होता है।

अब यहाँ से मैं पंतजी के 'प्रवेश' की आलोचना समाप्त करता हूँ, यद्यपि उनके लिखे हुए अभी बहुत-से विषय ऐसे रहे जा रहे हैं, जिन पर कुछ-न-कुछ लिखना आवश्यक था।

अब मैं पंतजी की कविताओं के निबाह पर कुछ लिखना चाहता हूँ। 'पल्लव'-पुस्तक में उनकी कविता 'पल्लव'-शीर्षक पद्य से शुरू होती है—श्रीगणेश इस तरह होता है—

“अरे, ये पल्लव-वाल !

सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार ;

अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
नहीं लुटी तरु - डाल ;

विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल ।”

पहले इन दोनो पंक्तियों को देखिए—

“अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,

हिलाते अधर-प्रवाल !”—

'प्रवाल'-शब्द दो बार आया है, एक बार तो पल्लवों की ही उन्होंने नवल-प्रवाल कहा, फिर पल्लवों के अधरों में प्रवाल जड़ दिए ! अर्थ हुआ, प्रवाल-पल्लव अपने अधर-प्रवालों को हिला रहे हैं !—इस तरह उपमान-उपमेय का निर्वाह सार्थक नहीं हो सका। दूसरे, 'हिलाते अधर-प्रवाल' का भाव-चित्र बड़ा ही विचित्र है। मैं जब इसे पढ़ता हूँ, सुझे

'पंजाब-थिएट्रिकल्स' के उस 'जोकर' की याद आती है, जो बड़े-बड़े अक्षरों के साइनबोर्ड के नीचे एक ऊँची टेबिल पर, कॉर्नेट और ड्रम की ताल पर थिरकता हुआ दर्शकों को देख-देखकर मुँह बनाता, और अपने पौडर-चर्चित चेहरे के मुक्ताकार तबक को अपनी विचित्र मुख-भंगियों द्वारा हिलाता रहता है। इस पद्य के साथ उस 'जोकर' का मेरी प्रकृति में इतना घनिष्ठ संबंध हो गया है, जिसका भूलना मेरे लिये असंभव हो रहा है।

पंतजी सोचें, उन्हीं के सामने यदि कोई खड़ा होकर अधर-प्रवाल हिलावे, तो हँसेंगे या नहीं। इससे हास्य के सिवा कोई सौंदर्य तो नहीं मिल सकता।

याँ दो बार प्रवाल का आना ही उनकी कविता में दोषकर हो गया है, परंतु यदि पहला प्रवाल छोड़ दिया जाय, तो दूसरा प्रवाल भी ऐसा नहीं कि भाव-चित्र का अच्छा निबाह कर सके।

यह सारा दोष 'हिलाते' का है। 'हिलाते' का प्रयोग ऐसे स्थलों में अच्छा नहीं होता। दो वाक्य देखिए—

“वे अधर-प्रवाल हिला रहे हैं”

“उनके अधर-प्रवाल हिल रहे हैं”

दूसरे वाक्य में सौंदर्य पहले वाक्य से कितना बढ़ गया है। पंतजी की इधर की कविता में एक जगह मैंने देखा—

“सलका हास कुसुम-अधरों में
छिन्न भोती का-सा दाना ।”

यहाँ हास फूलों के अधरों पर भोती के दाने की तरह आप ही दिखता है, हिलाया नहीं जाता, अतएव सुंदर है ।

‘बजा दीर्घ-साँसों की भेरी,
सजा सटे-कुच कलशाकार;
पलक-पाँवड़े बिड़ा, खड़े कर,
रोवों में पुलकित-प्रतिहार;
वाल-युवतियाँ तान कान तक
चल-चितवन के बंदनवार;
देव ! तुम्हारा स्वागत करती,
खोल सतत उल्लुक-द्वार ।’

इस पद्य में ‘बजा’, ‘सजा’, ‘तान’ आदि क्रियाएँ वैसी ही हैं । कलशाकार सटे कुचों को सजाना सौंदर्य की अभिव्यक्ति में सहायक होता है, और स्त्रियों के लिये कुचों का शृंगार करना प्रचलित भी है, इस दृष्टि से बुरा नहीं हुआ, परंतु दीर्घ साँसों की भेरी बजाना अस्वाभाविक प्रतीत होता है । यहाँ अवश्य ‘ऊँटखाने का मुंशी’ ‘मुंशीखाने का ऊँट’ नहीं हुआ, यह जरूर है कि पंतजी नारी-सौंदर्य के दिव्य भाव पर सफल नहीं हो सके । उनकी ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं—जिनमें दिव्य भाव की जगह बहुत साधारण भाव मिलते हैं—

“खैंच एँचीला-भू-सुरचाप,
 शैल की सुधि यों बारंबार;
 हिला हरियाली का सुदुकूल,
 झुला झरनों का झलमल-हार।
 जलद-पट से दिखला मुख-चंद्र,
 पलक पल-पल चपला के मार;
 भगन-उर पर भूधर-सा हाय!
 सुसुखि ! धर देता है साकार !”

यहाँ जब शैल की सुधि हरियाली का सुदुकूल हिलातो, झरनों का झलमल-हार झुलाती है, उस समय स्वर्गीय सौंदर्य वेश्या के सौंदर्य में परिणत होता—बहुत हल्का हो जाता है, जैसे कोई वेश्या दूसरे को मुग्ध करने के लिये वेश-न्यास कर रही हो। यहाँ यदि हार आप झूलता, दुकूल आप हिलाता, तो सौंदर्य दिव्य कहलाता। जलद-पट से मुख-चंद्र दिखलाना झरोखे से किसी चंचला नायिका का झोंकना हो गया है—अच्छा होता, यदि उसी तरह जलद-पट से मुख-चंद्र आप दिखलाई पड़ता।

सौंदर्य जिस ढंग का यहाँ चित्रित हुआ है, उसके प्रवाह में फर्क नहीं, कविता की दृष्टि से वह प्रथम श्रेणी की कविता हुई है, यह प्रत्येक समालोचक स्वीकार करेगा। आर्ट के विवेचन से तो पंतजी ने कमाल कर दिया है। ‘खैंच’ और ‘एँच’, ‘हिला’ और ‘हरियाली’, ‘झुला’ और ‘झरनों का झलमल’, ‘पलक’

और 'पल-पल', अनुप्रासों की सार्थकता के साथ, अर्थ को उतना ही मधुर कर देते हैं।

अंतिम दो लाइनें अच्छी नहीं, कम-से-कम 'साकार' को तो जरूर निकाल देना चाहिए। साकार यहाँ निरर्थक है, बल्कि अर्थ में एक कदर्थ लाता है।

'उच्छ्वास' में जहाँ आया है—

“गिरिवर के उर से उठ-उठकर,
उच्चाकांक्षाओं ले तरुवर;
हैं भाँक रहे नीरव-नभ पर,
अनिमेष, अटल कुछ चिंतापर!”

यहाँ निर्वाह अच्छा नहीं हुआ, पहाड़ के हृदय से उठकर पेड़ आसमान पर भाँकते हैं, ठीक नहीं; वाक्य ही असंगत है। आसमान की ओर भाँकते हैं, यह भी ठीक नहीं; भाँकने के लिये पहले तो एक झरोखे का चित्र चाहिए, जिसका इन पंक्तियों में अभाव है। फिर भाँकनेवाले को दृश्य से ऊपर रहना चाहिए, नीचे से ऊपर की ओर भाँका नहीं जाता; पेड़ नीचे हैं, आसमान ऊपर है, नीचे से ऊपर की ओर पेड़ क्या भाँकेंगे? अपरंच, भाँकना चंचलता का द्योतक है, भाँकते समय पेड़ों को अनिमेष, अटल और चिंतापर बतलाना प्राकृतिक सत्य की प्रतिकूलता करना है। यदि कोई कहे, 'नभ पर' यानी 'नभ की गोद में रहकर', तो भी अन्यान्य विरोधों से संगति ठीक

नहीं बैठती। अतएव ये पंक्तियाँ असफल हैं। इनके बाद पंतजी लिखते हैं—

“उड़ गया, अचानक, लो, भूधर ;
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्भर !
हैं दूट पड़ा भूपर अंबर !
घस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
यों जलद-यान में विचर-विचर ,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल !”

पंतजी शायद इन्हीं पंक्तियों के संबंध में लिखते हैं—“इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमें निर्भरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वतों का सहसा बादलों के बीच श्रोमल हो जाना आदि-आदि अद्भुत रस का मिश्रण है।” पंतजी को इन पंक्तियों में ‘अद्भुत-रस का मिश्रण’ पहाड़ के लोगों के लिये अद्भुत-रस नहीं।

इन पंक्तियों में अद्भुत-रस का परिपाक बराबर भूमि पर रहनेवालों के लिये अच्छा हुआ है; पर रस ऐकदेशिक नहीं होता।

पहले एक जगह मैंने लिखा है, मौलिकता का विवेचन आगे चलकर करूँगा। यहाँ थोड़ी देर के लिये पंतजी की कविताओं की आलोचना स्थगित करता हूँ। पंतजी ने दूसरी-दूसरी

जगहों से जो अच्छे-अच्छे भाव लिए हैं, यह कहा जा चुका है कि इस तरह के आवापहरण के अपराध में, बड़े-से-बड़े प्रायः सभी कवि दोषी हैं। जब कोई आलोचक ऐसे अपराध के कारण की जाँच करता है, तब उसे उस कारण के मूल में एक प्रकार की कविता के ही दर्शन होते हैं। वह देखता है, जिन भावों को ग्रहण करने के लिये वह कवि पर दोषारोप कर रहा था, वे भाव कवि की हृदय-भूमि में बीजरूप आप ही जम गए थे। उत्तमोत्तम भावों के ग्रहण करने की शक्ति रस-प्राही कवि-हृदय में ही हुआ करती है। जिन भावों को वह प्यार करता है, वे चाहे दूसरे के ही भाव हों, उसकी सहृदयता से धुलकर नवीन युग की नवीन रश्मि से चमकते हुए फिर वे उसी के होकर निकलते हैं। चोरी का अपराध लगाना जितना सीधा है, चोरी करना उतना सीधा नहीं। इस सत्य को कोई जब चाहे, आजमा सकता है। उदाहरण-स्वरूप, हिंदी के किसी प्रसिद्ध लेखक को किसी प्रसिद्ध कवि की कुछ पंक्तियाँ हजम कर जाने के लिये दे दीजिए। मैं कहता हूँ, उन्हें सफलता हर्गिज न होगी। वे किसी तरह उन पंक्तियों को ऋं भले ही कर डालें, पर अपनी तरफ से वे एक भी स्वस्थ पंक्ति न लिख सकेंगे। यहीं कवि-हृदय की मौलिकता का आभास मिलता है। 'चोरी तो एक क्रतरण-खूँ न निकला' को चरितार्थ करनेवाले आज-कल के छायावाद अंधकार में बेलगाम घोड़ा छोड़कर गोल तक पहले पढ़ूँचे के इच्छुक पाँचवें सवार कवियों की श्रेणी से

अलग, पंतजी साहित्य के एक अलंकृत उज्ज्वल आसन पर स्थित हैं। उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक आजीव जीवन आ गया है, जो साहित्य का ही जीवन है, जो किसी तरह भी नहीं मर सकता। उनकी आत्मा और साहित्य की आत्मा एक हो गई है। शब्दों को जिस सहृदय-दृष्टि से उन्होंने देखा है, अपनी रूचि के अनुसार उनमें जो परिवर्तन किए हैं, वही उनकी मौलिकता है। जब मैं पढ़ता हूँ—

“जननि श्याम की वंशी से ही

कर दे, मेरे सरस बन्धन ;

जैसा-जैसा मुझको छेड़ें ,

बोलूँ अधिक मधुर मोहन ।

जो अकर्ण अहि को भी सहसा

कर दे मंत्र-मुग्ध नत - फन ;

रोम-रोम के छिद्रों से मा,

फूटे तेरा राग गहन ।”

तब इन पंक्तियों में एक साफ आइने की तरह मुझे पंतजी का हृदय दिखलाई पड़ता है। कहने का ढंग भी कितना मार्जित, कितना अच्छा ! विना कानवाले सर्प-साहित्यिक को नवीन युग का कवि मुग्ध करना चाहता है, इसलिये कहता है, मेरे शब्दों को, मा, तू वंशी की सुरीली तान की तरह मधुर कर, जो विना कानवाले साँप को सहसा मंत्र-मुग्ध और अबनत-फन कर दे। अपने लिये भी कहा है, वे मुझे वंशी की तरह

जितना ही छेड़ें, मैं और मधुर बोलूँ। निस्संदेह, हृदय के एसेस के बिना, केवल हाथ की सफाई दिखलानेवाला कवि इतने सुंदर ढंग से नहीं कह सकता, और यही पंतजी की मौलिकता है। एक ही अर्थ को अनेक वाक्यों में, तरह-तरह के शब्दों में प्रकट करने की जो शक्ति कवि के लिये आवश्यक है, वह भी पंतजी में है। वह कुशाग्र-बुद्धि और नाजुक-अंदाज कवि हैं। उनको इस पंक्ति से—

‘उर के दिव्य नयन, दो कान’

जान पड़ता है, हृदय का पहचान उन्हें हो गई है। उन्हें साहित्यिक स्वतंत्रता प्राप्त रहनी चाहिए। यदि कोई इससे इनकार करेगा, तो इस तरह वे साहित्य-महारथी स्वयं ही अपनी प्रतिष्ठा घटाएँगे। पंतजी की सहृदयता उन्हें उनका अधिकार दिलाएगी। पंतजी के मंडन में मैं बातों-ही-बातों बहुत बहस कर चुका हूँ, जिसे मेरे मित्र, जिनसे मुझाबला आन पड़ा है, अच्छी तरह जानते हैं। प्रायः अधिकांश लोगों ने ‘प्रभात’ को स्त्रीलिंग मानने के संबंध में प्रश्न किया। मैं सबसे यही कहता गया कि भइ, उसके पीछे एक ‘श्री’ अपनी तरफ से जोड़ लो, अगर तुम्हें यह खटकता है। कविता स्तुद स्त्रीलिंग है। उसकी स्त्री-सुकुमारता में आकर्षण विशेष रहता है। पाठक प्रायः खिंच जाते हैं। भाव को रूप देने के वक्त कवि जिस रूप से प्रभावित रहता है, प्रायः वही रूप वह भावों को देता है। कोमलता लाने के लिये स्त्री-रूप की कल्पना से बढ़कर और

कौन-सी कल्पना होगी ? भावों के अलावा पंतजी ने अपने को भी स्त्री-रूप में कल्पित कर लिया है। यह भी उनकी मौलिकता ही है। हिंदी के निष्ठुर शब्दों को इसीलिये वे इतना सरस कर सके हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मौलिकता के साथ नवीन युग की प्रतिभा भी सम्मिलित है।

भाषा की प्रथम अवस्था के कारण इतने कोमल होकर भी 'पल्लव' में कहीं-कहीं जो परिवर्तन पंतजी ने किए हैं, उन्हें देखकर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि अब तक शब्दों के कोमल रूपों पर उनकी दृष्टि स्थिर नहीं बैठ सकी; क्योंकि अपने ही गढ़े हुए स्वरूप को, दुबारा पल्लव में छपने के समय, उन्होंने बिगाड़ दिया है। एक उदाहरण पेश करता हूँ। सरस्वती में छपने के समय उनकी 'स्वप्न'-कविता में एक जगह था—

“नयन-नीलिमा के लघु नभ में

यह किस सुखमा का संसार

विरल इंद्र - धनुषी - बादल - सा

बदल रहा है रूप अपार ?”

पल्लव में छपा है—

“नयनों के लघु - नील - व्योम में

अलि किस सुखमा का संसार

विरल इंद्र - धनुषी - बादल - सा

बदल रहा निज रूप-अपार ?”

“नयन-नीलिमा के लघु नभ में” जितना अच्छा है, “नयनों के लघु-नील-व्योम में” उतना अच्छा नहीं, यद्यपि दोनों के अर्थ में फर्क कोई नहीं। ‘सरस्वती’ मेरे पास नहीं है, बाद का जो परिवर्तन है, वह पहले ही-सा रक्खा गया है या परिवर्तन के रूप में, मैं ठीक तौर से न कह सकूँगा। ‘है’ के प्रति जैसी उदासीनता ‘पल्लव’ के प्रवेश में पंतजी ने प्रकट की है, जान पड़ता है, उसे निकालने के लिये ‘पल्लव’ में छपने के समय उन्होंने उस जगह ‘निज’ बैठा दिया है। ‘यह’ की जगह ‘अलि’-शब्द आया है। इनसे विशेष कुछ बना-बिगड़ा नहीं। बहुत बारीक विचार करने पर प्रथम पद्य में सरसता ज्यादा मिलती है, क्योंकि उसमें एक स्वाभाविक विकास है। इस तरह के और भी बहुत-से परिवर्तन पंतजी ने किए हैं, जो प्रायः बिगड़ ही गए हैं। उनके आँसू में पहले यह था—

“वर्ण-वर्ण है उर की कंपन,

शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,”

फिर ‘पल्लव’ में छपा—

“वर्ण-वर्ण है उर का कंपन,

शब्द-शब्द है सुधि का दंशन,”

पहले ‘कंपन’ और ‘दंशन’ स्त्रीलिंग में थे, फिर पुल्लिंग में हो गए। मुमकिन है, परिवर्तन के समय पंतजी में पुरुषत्व का जोश बढ़ गया हो, वह अपनी स्त्री-सुकुमारता भूल गए हों। मुझे तो पहला ही रूप अच्छा लगा है। इन उद्धरणों से

जान पड़ता है कि अभी वह एक निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँचे। अथवा अभी उन्हें कभी यह अच्छा और कभी वह अच्छा लगता है। मौलिकता के प्रश्न पर बारीक छान-बीन होने पर, निश्चय है, ब्रह्म ही हर सृष्टि के मूल में दृष्टिगोचर होगा, तथापि विकास के विचार से, पंतजी का विकास हिंदी-साहित्य में बड़ा ही मधुर और बड़ा ही उज्ज्वल हुआ है। जब मैं पढ़ता हूँ—

‘कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की संस्कार
स्फूर्ति करते संचार;
चूम सुख-दुख के पुलिन अपार
बलकती ज्ञानामृत की धार !’—

ब्रह्मवाद की एक उत्कृष्ट कविता मेरी नज़र से गुज़र जाती है, और मैं इसके कवि को उसी क्षण हृदय का सब कुछ दे डालता हूँ। ‘पल्लव’ में छपो हुई पंतजी की प्रायः सभी कविताओं में जीवन है, परंतु उनमें ‘परिवर्तन’ मुझे ज़्यादा पसंद है। मेरे विचार से ‘परिवर्तन’ किसी भी बड़े कवि की कृति से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।

ये बातें मैं तब कहता हूँ, जब पंतजी की ही तरफ से उनकी आलोचना करता हूँ। जब मैं अपने विचार भी उनकी कृति में लड़ाता हूँ, तब उसकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति में मुझे कुछ-न-

कुछ अनार्यता मिल जाती है। इसका असर मुझ पर नहीं पड़ता। जहाँ तक अच्छी चीज मिलती है, वहाँ तक 'गुण-दोष-मय' विश्व के दोषों से बचना ही श्रेयस्कर है। एक बार पंतजी ने मुझे लिखा था—“आप केवल मेरी तारीफ़ किया करते हैं, मेरे दोषों से मुझे परिचय नहीं कराते।” उस समय कुछ साधारण दोषों से उल्लेख कर मैंने उन्हें लिखा था, आपकी कविता से मुझे आनंद मिलता है, अतएव आनंद को छोड़ निरानंद के विषय को चूना प्रकृति के खिलाफ़ हो जाता है—प्रकृति कभी आनंद छोड़ना नहीं चाहती। जिन लोगों को पंतजी की कविता पसंद नहीं आई, जो लोग कई साल तक 'निराला' को गालियाँ देने में ही अपने पत्र की सफलता समझते रहे हैं, उनका बहुत बड़ा दोष नहीं, क्योंकि उनकी आत्मा ने उन्हें जैसी सलाह दी, उन्होंने किया। अस्तु, यहाँ मैं केवल यही दिखलाना चाहता हूँ कि किस तरह हर एक कृति में विकार रहता है—चाहे वह कालिदास की हो या श्रीहर्ष की, रवींद्रनाथ की हो या ईट्स की अथवा पंतजी की हो या 'निराला'जी की, अवश्य कबीर की या तुलसी की नहीं,—वाल्मीकि की या व्यास की नहीं, जिन्होंने आत्म-दर्शन के पश्चात् शुद्ध और प्रबुद्ध होकर 'एकमेवाद्वितीयम्' की आज्ञा मानकर रचनाएँ की हैं। मानवीय सुंदर कृति में विकार-प्रदर्शन का उदाहरण रवींद्रनाथ और कालिदास से न देकर पंतजी को ही उद्धृत करना उचित है। उसी 'परिवर्तन' में एक जगह है—

“सकल रोशों से हाथ पसार,

लूटता हृधर लोभ गृह-द्वार।”

जरा साहित्यिक निगाह से देखिए, ‘लोभ’ के साथ ‘लूटने’ की क्रिया कितनी असंगत है। ‘लोभ’ बेचारे में लूटने की शक्ति कहाँ ?—वह तो हड़पता है, जटता है, ठगता है, धोखा देता है, एँठता है, पर लूटता नहीं, और अगर लूटता है, तो वह ‘लोभ’ भी नहीं, ‘लोभ’ की ललचीली निगाह में लूटने का विप्लव, वह शक्ति कहाँ ? फिर ‘हाथ पसार’ कर लूट नहीं जाता, भीख जरूर माँगी जाती है। यदि कोई कहे, ‘लूटने’ का अर्थ ‘जटना’ या ‘एँठना’ भी होता है, व्यंग्य में, जैसे लुट गए या ठगा गए, उनसे यह एतराज है कि इस तरह तमाम कविता का बीसवीं सदीवाला जोश गायब हो जाता है—तमाम कविता जैसे बिना मेरुभूल के शिथिल हो गई हो। व्यंग्यार्थ के लेने से फिर वह भी व्यंग्य-चित्र की ही तरह दिखने लगती है। इस तरह की व्यंजना हिंदोस्तानी दिमारा के बेचारे वृद्ध साहित्यिक क्यों समझने लगे ? उनके सनातन-धर्मी गले की झँजी हुई परिचित रागिनी में ये लड़ियाँ आती ही नहीं—बेचारे करें क्या ?

यह कहा जा चुका है, यदि पंतजी की मौलिकता एक शब्द में कही जाय, तो वह मधुरता है। हिंदी में मौलिकता का बहुत बड़ा रूप उनके अंदर से नहीं प्रकट हुआ, कारण छानबीन में मौलिकता का बहुत बड़ा हिस्सा—प्रायः सर्वांश—दूसरों के

ही हक में चला जाता है; परंतु फिर जो कुछ भी उनके लिये रह जाता है, निहायत सुंदर, विलकुल उन्हीं का है। पहले मेरा विचार था कि 'पल्लव' के 'प्रवेश' के चुने हुए कुल विषयों पर लिखूँगा। इस तरह करोब-करोब २० विषय मैंने चुने थे। परंतु प्रायः आठ ही विषयों में लेख ने इतना बड़ा आकार ग्रहण कर लिया है। अब कुल विषयों पर लिखकर अकारण श्रम करने से जो ऊब रहा है। इस आलोचना में जहाँ-जहाँ मुझे पंतजी का विरोध करना पड़ा है, उस-उस स्थल के अप्रिय सत्य के लिये मुझे हार्दिक दुःख है। मैं जानता हूँ, एक मार्जित सुहृद् पर मैंने तलवार चलाई है। आलोचना लिखने से पहले मेरे विलकुल दूसरे विचार थे। दोष-दर्शन के लिये कभी किसी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, कृति के सामने घाते ही गुण और दोष भी सामने आ जाते हैं। पहले एक बार और पंतजी के संबंध में मैंने 'मतवाला' में लिखा था, उस समय भी उनके दोषों के रूप मेरे सामने आ चुके थे, परंतु मैंने उनका उल्लेख नहीं किया। पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' को अवश्य स्मरण होगा, जब 'भावों की भिड़ंत' में 'भावुक' महाशय ने मेरी चोरियाँ दिखलाई थीं, उसके बाद जब 'नवीन' जी से मेरी मुलाकात हुई, पंतजी के संबंध में मैंने उनसे क्या कहा था। यह साहित्य है, यहाँ कमचोरियों का बहुत स्पष्ट उल्लेख मेरे विचार से अनुचित है, उसी तरह कहीं कुछ भलाई करके इनाम की प्रार्थना भी हास्यास्पद है। अतएव, बहुत-सी बातों

को मुझे दबा रखना पड़ा। यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'पल्लव' में मेरी कविता पर कुछ लिखने से पहले उचित था कि पंतजी मेरी भी सलाह ले लें, जब कि वह मेरे मित्र थे, और इस सलाह से उनके व्यक्तिस्व को किसी तरह नोचा देखना पड़ता, यह तो मैं अब तक भी सोचकर नहीं समझ सका। व्यावहारिक संसार में यद्यपि १००० में ९९९ इस तरह के दृष्टांत मिलते हैं कि लोग और सब तरह की कमजोरियाँ स्वीकार करने के लिये तैयार हैं, परंतु बुद्धि की शर्द्धा में कोई भी अपने को घटकर नहीं समझता, चाहे वह महामूर्ख ही क्यों न हो, तथापि, पंतजी जैसे माजित मनुष्य से मित्रता का एक निहायत साधारण व्यवहार पूरा न होगा, मुझे पहले यह आशा न थी। उन्हें कमजोर सिद्ध करने के अपराध में मैं उनसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ, यद्यपि यह अपराध कवियों के लिये साधारण अपराध है। उनके अपराधकी गुरुता को मैं सिर्फ इसलिये नहीं सहन कर सका कि प्रतिभा के युद्ध में उन्होंने बेक्रसूर 'निराला' को मारा, और अपने संबंध में सब कुछ पी गए। यह सब मुझे निहायत असंगत अन्याय के रूप में दिखलाई पड़ा। मैं अपनी कविताओं के संबंध में काफी इज्जत दे चुका हूँ। इधर पंतजी ने लिखा था, उनके कुछ मित्र मेरी भी आलोचना करना चाहते हैं। अच्छा हो, यदि इस कार्य का भार पंतजी स्वयं उठाने का कष्ट स्वीकार करें। तीरों को तूण में रखकर अकारण बोझ लिए हुए फिरने से

तूष्णी को खाली कर देना अच्छा होगा। इस विचार से मैं अपने संबंध में चुप रहना उचित समझता हूँ।

‘परिवर्तन’ को छोड़कर पंतजी की अन्यान्य कविताएँ जो ‘पल्लव’ में आई हैं, जितनी मधुर हैं, उतनी ओजस्विनी नहीं। जान पड़ता है, बाल-रचनाएँ हैं। पंखड़ियों के खोलने की चेष्टा की गई है। हिंदी की मधुरता के साथ इस समय विशेष धोज की भी जरूरत है। विश्व-साहित्य के कवि-समाज पर उसी तरह के कवि का प्रभाव पड़ सकता है, जो भावना के द्वारा मन को आकर्षक रीति से उन्नत-से-उन्नत विचार कला के मार्ग से चलकर दे सके।

सुमन-हास में, तुहिन-अश्रु में

मौन-सुकुल, अलि-गुंजन में ;

हृद-अनुप में, जलद-पंख में

अस्फुट बुद्बुद कंदन में ;

स्रद्योतों के मखिन-दीप में

शिशु की स्मित, तुलसेपन में ;

एक भावना, एक रागिनी

एक प्रकाश भिला मन में ।

इन पंक्तियों में जिस एक ही भावना, रागिनी तथा प्रकाश की कवि अनेक स्थलों की मधुरता में व्यंजित करना चाहता है, वह प्रकाश उन स्थलों के सौंदर्य के बोझ से जैसे दबा जा रहा हो। जिस एक प्रकाश की कवि अन्य वस्तुओं तथा विषयों

पर व्यंजित कर देना चाहता है, लड़ियों में उस प्रकाश की अपेक्षा सजावट में शक्ति ज्यादा आ गई है, पाठक सजावट में इतना भुंक जाता है कि फिर प्रकाश देखने के लिये वह उठ नहीं सकता। साफ जान पड़ता है कि कवि स्वयं जितना 'अस्फुट-बुद्बुद-क्रंदन' में लीन है, उतना 'प्रकाश' में नहीं, इसीलिये पाठक भी उधर ही भुंकते हैं। यहाँ प्रधानता उस 'एक प्रकाश' की है, खद्योतों के मलिन 'दीप' की नहीं— अतएव व्यंजना उसी की जबरदस्त चाहिए थी।

“छोड़ हमों की मृदु छाया,

तोड़ प्रकृति से भी माया;

बाले ! तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन ?

भूल अभी से इस जग को।”

वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटकर 'दुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूटकर जहाँ ठहरिए, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे, तो 'दुमों की मृदु छाया' में क्या करने गए ? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी ?—प्रकृति में ही रहे, तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया ?—प्रकृति में 'बाला' से मधुर और क्या

होगा ?—'बाला' को छोड़कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन हुआ है—उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में बाला के बाल-जाल को छोड़कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह उस प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिए। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों, वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसंद होगी ? इस कविता के अन्यान्य पद्य भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका ले जाते हैं। कवि को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कला के विकास का मार्ग क्या है। कला के साथ कभी मनमानी किसी की नहीं चल सकती। कला ही कवि की प्रियसी और अभोष्ट देवी है। उसे कवि जिस दृष्टि से देखेगा, साहित्य में वही छाप पड़ेगी। उससे छेड़-छाड़ तभी तक अच्छी लगती है, जब तक उसका भी उस छेड़-छाड़ से मनोविनोद होता है। यदि उससे जबरदस्ती की गई, तो साहित्य में उस बलात्कार की ही छाप पड़ेगी। उस जगह साफ जान पड़ेगा कि यह कविता के रूप में एक अस्वाभाविक और विकृत चेष्टा है।

परंतु जहाँ पंतजी लिखते हैं—

‘कभी उड़ते-पत्तों के साथ

सुभे मिलते मेरे सुकुमार।

बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ

बुलाते हैं मुझको उस पार।”

यहाँ कला का विकास हृद दर्जे को पहुँच गया है। पहले जिन बातों पर एतराज था, यहाँ वही बातें विकसित स्वरूप धारण करती हैं। उड़ते पत्तों को देखकर सुकुमार या प्रियतम की याद आना निहायत स्वाभाविक, निहायत आकर्षक और अस्थंत सरस है, इतना सरस कि जैसे प्रियतम ही मिल गए हों। फिर लहरों के छोटे-छोटे हाथों के इशारे जब वही प्रियतम अपनी नवोद्गा प्रेयसी को उस पार बुलाते हैं, तब उनकी प्रेयसी के साथ कविता भी असीम में विलीन हो जाती है। प्रियतम की याद आने के बाद लहरों को देखकर प्रिय का ही हाथ बढ़ाकर बुलाने का इशारा समझना बड़ा ही मधुर हुआ है— फिर बुलाना भी उस पार। यह अभिव्यक्ति सौंदर्य के साथ असीम की ओर हुई है, अतएव निर्दोष और सहृदय-संवेद्य है।

“दिवस का इनमें रजत-प्रसार,

उषा का स्वर्ण - सुहाग ;

निशा का तुहिन-अक्षु-शृंगार,

साँझ का निःस्वन राग ;

नवोद्गा की लज्जा सुकुमार,

तरुणतम सुंदरता की आग।”

पल्लव के प्रति कवि की ये उक्तियाँ कला के प्राणों से मिलकर एक हो गई हैं। परंतु दिवस, उषा, निशा और साँझ का क्रम

ठीक न रहने से कारीगरी का आभास मिलता है, जो स्वाभाविक वर्णन का बाधक हो जाता है। कला भी कारीगरी ही है, परंतु त्वाभाविक। यहाँ असीम के संबंध की कोई बात नहीं। केवल कला ही अपना सौंदर्य प्रदर्शन करती है।

पंतजी 'है' को कविता से निकाल देने के लिये कहते हैं। कहते हैं, इसे माया-भृग समझकर कविता की सीता के पास न आने देना चाहिए। परंतु सब जगह यह बात नहीं। करुणा के स्थल पर 'है' ही एक हृदय तक धंसकर उसे कमजोर करता और करुणा को उभाड़ता है—जैसे—

“कहाँ है उत्कंठा का पार !!

इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !

तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !

टूट जा यहीं, यह हृदय-हार !!!

× × ×

कौन जान सका किसी के हृदय को ?

सच नहीं होता सदा अनुमान है !

कौन भेद सका, अगम आकाश को ?

कौन समझ सका उदधि का गान है ?

है सभी, तो ओर दुर्बलता यही,

समझता कोई नहीं—क्या सार है !

निरपराधों के लिये भी तो अहा,

हो गया संसार कारागार है !”

पंतजी की एक कविता 'विश्ववेणु'-शीर्षक है, उसी में एक जगह है—

“हर सुदूर से अस्फुट-तान ,
आकुल कर पथिकों के कान ,
विश्ववेणु की-सी भंकार ,
हम जग के सुख-दुःखमय गान

पहुँचाती अनल के द्वार ।”

जिस कविता का शीर्षक 'विश्ववेणु' है, वहाँ पाठक पहले ही से यह अनुमान कर लेता है कि कवि अब विश्ववेणु ही पर कुछ लिखेगा। फिर जब कविता में 'हम' का प्रयोग आता है, तब 'हम' को कवि के विश्ववेणु का ही सर्वनाम निश्चय किया जाता है। 'विश्ववेणु' का ख़लासा अर्थ है संसार की मधुरता, जो उसके ज़र्रे-ज़र्रे में व्याप्त है। उद्धृत पद्य में, “विश्ववेणु की-सी भंकार (हैं हम)” यानी हम (विश्ववेणु) विश्ववेणु की-सी भंकार हैं—इस तरह का दोष आ जाता है। शीर्षक विश्ववेणु देकर उपमा में फिर विश्ववेणु का लाना ठीक नहीं हुआ।

माधुर्य में पंतजी की 'अनंग', 'स्वप्न', 'बीचि-विलास', 'छाया' और 'मौन-निमंत्रण' आदि कविताएँ हैं, जो अच्छी हैं। कहीं-कहीं इनमें भी चमत्कार हृद दर्जे को पहुँच गया है।

“गाओ, गाओ, विहग-बालिके !

तरुवर से मृदु-मंगल-गान ,

मैं छाया में बैठ तुम्हारे
 कोमल स्वर में कर लूँ स्नान ;
 हाँ सखि, आओ, बाँह खोल, हम
 लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
 फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
 हो जावें द्रुत अंतर्धान !”

× × ×

देख वसुधा का यौवन-भार
 गूँज उठता है जब मधुमास,
 बिधुर-उर के-से मृदु-उद्गार
 कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
 न-जाने, सौरभ के मिस कौन
 सँदेशा सुंके भोजता मौन !

क्षुब्ध-जल-शिखरों को जब बात
 सिधु में मथकर फेनाकार ;
 बुलबुलों का व्याकुल-संसार
 बना बिथुरा देती श्राप्रात
 उठा तब लहरों से कर कौन
 न-जाने, सुंके बुल्लाता मौन !

× × ×

अलि ! क्या कहती है प्राची से
 फिर उज्ज्वल होगा आकाश

पर, मेरे तम-पूर्ण-हृदय में
 कौन अरेगा प्रकृत-प्रकाश ।

इन पंक्तियों में सौंदर्य के सहस्र दल को आपनो प्रतिभा के सूर्य से पंतजी ने पूर्ण प्रस्फुट कर दिया है। मैंने सुना है, लोगों की दृष्टि से पंतजी गिर गए हैं। मैं जानता हूँ, यह उठने-गिरने का इंद्रजाल क्षणिक है। जो लोग केवल गिराने में दूसरों की सहायता के लिये उत्पुक रहते हैं, वे इस युग के मनुष्य नहीं। दुःख है, हिंदी-साहित्य में ऐसे रत्न के भी जौहरी नहीं। पत्रों के संपादकों और वृद्ध साहित्यिकों की हास्यक्रूर शक दृष्टि से ईश्वर साहित्य की रक्षा करे। ये लोग तीन पुस्त तक दौब चुकाने की हिंसा धारण कर सकते हैं।

परिवर्तन के बाद मेरी दृष्टि में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का स्थान है। 'पल्लव' में यद्यपि यह नहीं, फिर भी पंतजी की 'प्रथम रश्मि' भी मुझे बहुत पसंद आई। उसमें अकारण विशेषणों का लदाव नहीं, और प्रकाशन बड़ा ही जबरदस्त है।

“कभी तो अब तक पावन-प्रेम
 नहीं कहलाया पापाचार ,
 हुई मुझको ही मदिरा आज ,
 हाय ! क्या गंगा-जल की धार !!

हृदय ! रो, अपने दुःख का भार !

हृदय ! रो, उनको है अधिकार !

हृदय ! रो, यह जड़-स्वेच्छाचार,
शिशिर का-सा समीर-संचार !!

×

×

×

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान !”

इन पंक्तियों में कितनी स्वाभाविकता है ! जान पड़ता है, ये हृदय के शब्द हैं। इसीलिये इतने सहज और इतनी तोक्षण चोट करनेवाले हैं। ‘वाणी में, त्रिवेणी की लहरों का गान’ वर्तमान हिंदी के हृदय का गान है। ‘संग में, पावन गंगा-स्नान’ से जान पड़ता है, दो ज्योतिर्मयी मूर्तियों—दो किरणों का मिलन हो रहा है। ‘जड़-स्वेच्छाचार’ के उदाहरण में ‘शिशिर का-सा समीर-संचार’ भी लाजवाब है।

‘बादल’ कविता में है।

“जलाशयों में कमल-दलों - सा
हमें खिलाता जब दिनकर ;
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर ।

वायु लहरों के चल-पलनों में
हमें मुलाता जब सागर ;

वही चीरह-सा रूपद, बाँह गह
हमको ले जाता ऊपर ।

× × ×

फिर परियों के बच्चों - से हम
सुभग-सीप के पंख पसार ;
ससुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
षकड़ इंदु के कर सुकृमार ।
अनिल-विलोदित गगन-सिंधु में
प्रलय - बाढ़ - से चारो ओर ;
उमड़ - उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर ।

बुद्बुद-श्रुति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में द्याम ;
हम विशाल - जंबाल - जाल - से
बहते हैं अमूल अशिराम ।

× × ×

व्योम-विपिन में जब वसंत-सा
खिलता नव - पल्लवित प्रभात
बहते हम तब अनिल-ज्योत में
गिर तनाल-तम के-से पात ।
उदयाचल से बाल-हंस फिर
उड़ता अंबर में अवदात ;

कैल स्वर्ण-पंखों से हस भी
करते द्रुत मास्त से बात ।”

इन पंक्तियों में पंतजी की सौंदर्य-पर्यवेक्षण-कला की यथेष्ट सूक्ष्मता प्रकट हुई है। पंतजी में सबसे जबरदस्त कौशल जो है, वह शैली की तरह अपने विषय को अनेक उपमाओं से सँवार-कर मधुर-से-मधुर और कोमल-से-कोमल कर देना। भावना की प्रबल जागृति तो नहीं, परंतु सौंदर्य के मनोहर रूप जगह-जगह, पंक्ति-पंक्ति में मिलते हैं। रूपक और अलंकार बाँधना उनके बाएँ हाथ का खेल है। सफलता जैसे स्वयं उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही हो।

राष्ट्र और नारी

संस्कृत-साहित्य में जो विधाता की आदि शृंगार-सृष्टि, वन-पादपों के पाद-मूल में खड़ी सखियों के साथ आलवालों में जल सींचकर कौतुकाजाप करती हुई, महाकवि की कल्पना की उज्ज्वल प्रतिमा, शकुंतला वन्य बल्कलों से अपने पीन-पुष्ट भरे-उभरे हुए नवीन यौवनांगों को ढके, सलाज-सप्रेम दृष्टि से चलुदिक् चंचल हँसती हुई मिलती है। वह केवल नाटक की प्रधान नायिका या पुराण की कल्पित पात्री ही नहीं, किंतु वह तत्कालीन राष्ट्र की सर्वोत्तम आदर्श नारियों की ज्योतिर्मयी साहित्य की प्रधान अभिनेत्री है। संस्कृत-साहित्य में दूसरी शकुंतला नहीं। उसके सरस-कोमल-मधुर उपाख्यान के स्वर्गीय प्रेम का रसास्वादन करने के साथ-ही-साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह तपोवन की तपस्या, प्रेममयी नारी-शिरोमणि शकुंतला ही उस समय के एकच्छत्र सम्राट् भारत की जन्मदात्री थी। भारत की सम्राज्ञी, भारत की सम्राट्-माता शकुंतला के चरित्र में भारत-राष्ट्र की आदर्श-नारियों को अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं, जिनमें एक ही साथ अपार रूप तथा अविचल तपस्या, एकनिष्ठ पति-परायणता तथा आश्चर्यकर अोज, एक ही देह की द्युति में

लवण्य तथा कठोर संयम की विद्युत्-शिखा, अपांगों में अचूक भ्रमोहनास्त्र तथा अपार धैर्य और शांति मिलती है। प्रेम-शृंगार जितना ऊँचा, त्याग भी उतनी दूर तक समांतराल रेखा की तरह खिंचा चलता हुआ। यह तत्कालीन भारत-राष्ट्र की कल्याणी नारी-मूर्ति है, जिसे देखकर कामनाएँ आप ही में मुरझाकर मर जाती हैं—शांति के रूप में स्वर्गीय सुख का अनर्गल प्रवाह बह चलता है।

आज जो अतृप्त उदाम वासनाएँ विषय के आसन पर बैठने-बिठाने के लिये हमारे राष्ट्र की शिक्षित महिलाओं को सदा ही दंश दे रही हैं, जिनके ज्वर से उनका स्वर्णोज्ज्वल शृंगार-शरीर प्रतिदिन स्याह पड़ता जा रहा है, इसका कारण वस्तव में यह है कि आवश्यकताओं की पूर्ति के विशद उपाय को ही वे भूल गई हैं। वे इतना बहिर्मुख तथा दूसरे राष्ट्रों की ऐश्वर्यवती महिलाओं के रूप-रंग, हाव-भाव, केश-वेश आदि की तरफ बढ़ी हुई हैं कि उन्हें अपनी आत्मा की ज्योति की तरफ देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। आईने में अपने ही चित्र को वे दूसरी स्त्रियों के चित्रों में कल्पित कर देखती हैं, और उस मानसिक आदर्श से बहुत पीछे रहने के कारण अपने अम्लान रूप के पुष्प को नहीं पहचान पातीं, बल्कि उसे देखकर पाला की मारी हुई फूली डाल की तरह मुरझ जाती हैं। यह आत्मिक दैन्य है, जहाँ दृष्टि रूप पर नहीं, उसके साधनों पर पड़ती है, जहाँ अपने ही साथ

राष्ट्र की स्वाधीन सत्ता स्वप्न के छाया-चित्रों की तरह विलीन हो जाती है, और निद्रा के क्रमशः प्रगाढ़ होते हुए स्तब्धांधकार पर सत्य का भान होने लगता है। मरोचिका सत्य नहीं, सत्य जल ही है, और तृष्णार्त के लिये आवश्यक भी वही है; पर मरोचिका को ज्योति, रम्यता तथा आकर्षण अपार-अतुल है। तृष्णा की सताई हुई आत्मा में क्षणिक धैर्य के आए बिना मरोचिका की माया प्रत्यक्ष भी नहीं होती। वह उसी के पीछे भटकना अपना उद्देश समझती है।

अभी उस दिन लखनऊ में, नारियों के समाज में, एक नेता ने रूप तथा वस्त्रों पर भाषण करते हुए कहा—आप लोगों में वे आँखें होनी चाहिए, जिनमें रूप के सब मूल्य की पहचान हो। अब विदेशी वस्त्रों से सौंदर्य बढ़ता नहीं, बल्कि सुंदरता घट जाती है, जैसे रूप को कलंक स्पर्श कर रहा हो। इतना सुनते ही खहर की साड़ी से सजी हुई एक किशोरी, प्रभात की ज्योतिर्मयी तरंग की तरह, अपने अल्प-सज्जित रूप की तरुण लहरों से उमड़ पड़ी। वहीं संसार-प्रसिद्ध भारत की आदर्श राष्ट्र-नेत्री भी बैठी हुई थीं। उनके अधरों के पल्लव अंधकार से ढक गए। उनकी बेशकीमत विदेशी सूत की जरीदार देशी साड़ी भी अपनी रजत-श्वेत धुति से उस अंधकार को दूर नहीं कर सकी। उस तरुणी बालिका की अदम्य धुति राष्ट्र की आत्मा की ज्योति थी, वहाँ प्राणों का प्याला अपने अपार रूप के गर्व से उस समय

उसके लिये ऊपर तक भरकर कुछ छलक गया था, जिसकी प्रभा से सभास्थल कुछ काल के लिये तड़ित-हत, चकित, स्तंभित रह गया था। उस अपराजित खिलाई हुई रूप-राशि में थोड़ी देर के लिये राष्ट्र-नारा की अभाव-रन्ध्र अपनी ही मौलिकता से अस्वर्गीय छवि धा गई थी। इसी छवि की स्थायी प्रतिष्ठा देश की वर्तमान महिलाओं में हो, तो वे अपनी आत्मा की शक्ति तथा सौंदर्य से परिचय प्राप्त कर सकती हैं।

इतनी ही सुंदरता राष्ट्र की नारियों के रूप का सोलहो शृंगार नहीं, क्योंकि बख बाल भूषण ही है। आत्मा को अलंकृत करने के लिये उन्हें आत्मिक भूषणों की आवश्यकता है। यहाँ आता है शिक्षा तथा संस्कृति का प्रश्न। यही आत्मा के स्थायी प्रकाश हैं, जिनके खुलने पर राष्ट्र के अज्ञान के कारण होनेवाले छल-छिद्र तथा उत्पात-पीड़न अपने फैलाए हुए माया के अंधकार में अपने को छिपा न सकेंगे, वे पाप-मुख प्रकट हो जायेंगे। फिर उनके तिरस्कार के लिये देर न होगी। ज्ञान कभी भी पराधीन नहीं रह सकता। बल्कि यदि एक ही शब्द में स्वाधीनता की परिभाषा की जाय, तो वह ज्ञान ही होगा। यह ज्ञान-राशि भी यदि हर तरफ से हमारे राष्ट्र की नारियों को पराश्रित कर रखे, तो उनके हृदय से निकला हुआ स्वतंत्रता का स्रोत भी पर-राष्ट्र-सागर-वाही होगा, उसका पवाह कभी भी अपने ज्ञान के महासागर की ओर

नहीं हो सकता। यह दार्शनिक सत्य है। हमारा अभिप्राय यह है कि हम अपने राष्ट्र की महिलाओं के लिये चाहते हैं, वे दूसरों को अपनी आँखों से देखें, अपने को दूसरों की आँखों से नहीं। और, यह उपयोग सार्वभौमिक रूप से किया जाय, ताकि फिर एक बार राष्ट्र की नारियाँ पालनों पर बच्चों को झुलाते हुए, “ध्वमसि निरंजनः”—जैसे शिशु-सुमि-गीत गावें, और बालक नवीन यौवन के उन्मेष में सहस्र-सहस्र कंठों से कह लें—“न मे मृत्यु-शंका, न मे जाति-भेदः।”

रूप और नारी

आकाश की आत्मा सूर्य का खुला हुआ प्रकाश ही पृथ्वी के ससीम सहस्रों पादपों के अखिल जीवों में रूप की कम्पनीय कांति खोल देता, भावना को अपार्षिव एक स्वर्गीय कुछ कर देता, भीतर से उभाड़कर भूमा के प्रशस्त ज्योतिर्मंडल में ले आता है। उस स्वतंत्र प्रकाश के स्नेह-स्पर्श से सुप्त प्रकृति की तंद्रा छुट जाती, उसके सहस्रों रूप अपनी लाख-लाख आँखों से अपने ही विभिन्न अनेक अम्लान चित्रों को प्रत्यक्ष करते हैं, हृदय के अंधकार की अर्गला, जिसके कारण प्रकाश-पुंज प्रवेश नहीं कर पाता, खुलकर गिर जाती, ज्योति का जगमग प्रवाह, जो चारों ओर बहता हुआ सृष्ट जीवों की स्वाभाविक स्वतंत्रता का स्रोत खोलता फिरता है, हृदय में भर जाता है। मोह का मंत्र-मुग्ध आवेश कट जाता, पुलकित हो हृदय, अपने हलके ऐश्वर्य से प्रसन्न, खिल जाता, है, उसी तरह, जैसे ज्योति के एक ही लघु चुंबन से पुष्पों के प्राण खुल जाते, पल्लव प्रसन्न हो हिलने-डोलने, भूमने-धूमने लगते हैं।

यह ज्योतिःप्रवाह अरूप है। जड़ों में यह चेतन-संयोग ही गति है। प्रत्येक पद पर इसका अज्ञात स्पर्श जीव-जग करता

रहता है, अन्यथा दूसरा चरण उठ नहीं सकता, उसे अपनी सत्ता का निश्चय नहीं हो सकता। वह वहीं निर्जीव प्रस्तर की तरह अचल है। उसमें स्वतः विचरण की शक्ति नहीं, पृथ्वी के साथ ही उसे अलक्ष्य के इंगित से महाकाश की परिक्रमा करनी पड़ती है। जीव को हर साँस में वह स्पर्श मिलता है।

साहित्य में इस अरूप की स्वतंत्र सत्ता को नारियों में स्थिर रूप दिया गया है। कलाविदों ने वहीं पुरुष और प्रकृति का सौहार्द, दोनों का अपार प्रेम, निरंतर योग देखा। आकर्षण दोनों के संभोग-विलास में ही है, वह और अच्छा जब एक ही आधार में हो। यही बीज-मंत्र है, जिसका जप कर उन्होंने नारियों के अगणित-अपार रूपों में सिद्धि प्राप्त की। ये सिद्ध रूप परवर्ती काल के साहित्य की आत्मा में प्राणों का प्रवाह भरते गए हैं। बाह्य महाशून्य की चेतन-स्पर्श से जगी हुई असंख्यों रूपसी-अप्सराओं की तरह ये साहित्य की पृथ्वी पर चपल-चरण, नम्र, शिष्ट, भिन्न-भिन्न अनेक प्रकृति की श्री-शृंगारमयी, रूप के ऊषा-लोक में अपलक ताकती हुई, स्तब्ध की ज्योति से पुष्ट-यौवना युवती, कुमारिकाएँ हृदय-शून्य के चेतन-स्पर्श से जगकर उठी हुई हैं, जो मूर्त बाह्य रूप-राशि ही की तरह अमर हैं, जिनसे बाह्य स्वतंत्रता की तरह अपार आंतरिक स्वतंत्रता मिलती है, और बाह्य के साथ अंतर के साम्य का निरुपद्रव संदेश।

रूप की चंपा अपने स्नेह की ज्ञाना-डाल पर पत्तलों के भीतर अक्षुली कोमल-सरल खिलवन से अपरिचित संसार को देखती, न-जाने किस अज्ञात चंचल भावावेश में डोलकर अपने गृह के पत्र-द्वार बंद कर लेती है; अरूप के इस चपल रूप-स्पर्श से कवि के अस्तिष्क की सुप्त स्मृतियाँ-तत्काल आँखें खोल देतीं, रूप की स्वर्ण-च्छवि चित्त के चित्र-पट पर अपनी संपूर्णता के साथ मुडौल अंकित हो जाती है। वह उस मूक वारणी में प्राणों का संचार कर देता है—वहीं प्राण, जिसका अनुभव, पुलक अभी-ही-अभी उसे रोमांचित कर चुका है। साहित्य के एक पृष्ठ में एक विकच नारो-मूर्ति, तम के अतल-प्रदेश से सृणाल-दंड की तरह अपने शत-शत दलों को संकुचित-संपुटित लेकर, बाहर आलोक के देश में, अपनी परिपूर्णता के साथ खुल पड़ती है। जहाँ में प्राण संचरित हो जाते, अरूप में भुवन-मोहिनी ज्योतिःस्वरूपा नारो ।

तरंगों की अंग-संचालन-क्रिया, अविराम-प्रवाह, पुनः-पुनः आकाश के प्रति उठकर उनकी चुंबन-चेष्टा, सहस्रों भंगिमाएँ, उठ-उठ वारंवार गिरना, गिर-गिर उठने की शक्ति प्राप्त करना, उत्थान और पतन के बीच इतना ही विराम प्राप्त कर क्रमशः बढ़ते ही जाना प्रत्यक्ष कर कवि के हृदय का, आदि-सृष्टि के रहस्य का बंद द्वार खुल जाता है; किस तरह, कितने दुःसाध्य अध्यवसाय के पश्चात्, सहस्रों निष्फल-सफल चेष्टाओं के भीतर से आधार-पद्म की सुप्त शक्ति जाग्रत हो

सहस्रार में परमप्रिय ब्रह्म से मिलती है, वह दर्शन कर लेता है । जीवन की पराजय का फिर उसे भय नहीं रह जाता । अधिराम प्यास, चिरंतन कामना, जिसे सदा ही बहती हुई लहरों में वह देखता है, साहित्य के हृदय में प्रिया की लृषणा के रूप से अपने अनुभव-सत्य की इस तरह की पंक्तियाँ छोड़ जाता है—

“जनम अवधि ह्यम रूप निहारतु
 नयन न तिरपित भेल ।
 ताम्ब-लाख युग हिये हिय राखतु
 तयो हिय सुदन न गेल ।”

भावना के हृदय में रूप की विदग्धता की आग भर देता है—नारी भावनामयी बन रूप के शिखर पर चिरकाल बैठी रहती है, अमर अकलांत वह अनुपम मूर्ति माइकेल एंजेलों की भावना मूर्ति की तरह मनुष्य-जाति के हृदय की जाग्रत देवी, शक्ति की अपार महिमा, सौंदर्य की प्रेयसी प्रतिमा बन-कर मनुष्य-समाज को स्वतंत्र विचारों की ओर मौन इंगित से बढ़ाती हुई ।

हमारे साहित्य का ध्येय

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज में वह महत्त्व प्राप्त नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मंडल में रहनेवालों में, जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसीलिये हमारे देश के अधिकांश प्रांतीय साहित्यिक राजनीति से प्रभावित हो रहे हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिये कार्यकारी सच्ची राष्ट्र-नीति की अत्यंत आवश्यकता है, पर यह भी सच है कि देश में नवीन संस्कृति के लिये व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उसी हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीतिक कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देती है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये, शरीर के तमाम अंगों की पुष्टि की तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति-क्रम के जो विचार गणित के अनुसार प्रत्येक दशा की गणना कर संपत्तिवाद के कायदे से कल्पना द्वारा देश का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बंध कर

चनकी बहुमुखी उच्चाभिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या बाह्य स्वातंत्र्य सिद्ध करते हैं।

अधिकांश सम्मान्य नेताओं की उक्ति है, पहले राज्य, फिर सुधार, व्यवस्थाएँ, शिक्षा आदि। मनुष्य जब अपनी ही सत्ता पर जोर देकर संसार की बिगड़ी हुई दशा के सुधार के लिये कमर कस लेता है, तब वह प्रायः सोऽहम् बन जाता है, प्रकृति के विरोधी गुणों, दुनिया की अइच्चनों तथा मनुष्यों की स्वभाव-प्रियता को एक ही छल्लों से पार कर जाता है। समष्टि के मन को यंत्र-तुल्य समझकर अपने इच्छानुसार उसका संचालन करता है। इसी जगह एक सच्चे नेता से एक सच्चे साहित्यिक का मत-भेद है। साहित्यिक मनुष्य की प्रकृति को ही श्रेय देता है। उसके विचार से हर मनुष्य जब अपने ही प्रिय मार्ग से चलकर अपनी स्वाभाविक वृत्ति को कला-शिक्षा के भीतर से अधिक साजित कर लेगा, और इस तरह देश में अधिकाधिक कृतिकार पैदा होंगे, तब सामूहिक उन्नति के साथ-ही-साथ कान्य स्वतंत्रता आप-ही-आप प्राप्त होगी, जैसे युवकों को प्रेम की भावना आप-ही-आप प्राप्त होती है, यौवन की एक परिणति की तरह।

संपत्ति-शास्त्र और गणित-शास्त्र कभी ईश्वर की परवा नहीं करते। उनके आधार पर चलनेवाले नेता भी अदेख शक्ति या अज्ञात रहस्यों पर विश्वास करना अपने को पंगु बनाना समझते हैं, और उनके लिये यह स्वाभाविक है भी, जब संपत्ति और

गणित के साथ देश की भित्री में उन्हें जड़-ही-जड़ मिलता है, और उनकी स्वतंत्रता भी बहुत कुछ जड़ स्वतंत्रता है। साहित्यिक के प्रधान साधन हैं सत् चित् और आनंद। उसका लक्ष्य है अग्नि, भाति और मिथ पर। उसकी स्वतंत्रता इनकी स्फूर्ति से व्यक्ति के साथ समष्टि के भीतर से आप निकलती है।

साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नहीं चाहता, कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उसकी दृष्टि में 'पहले मुर्गी, फिर अंडा या पहले अंडा तब मुर्गी' अर्थ की तरह रहस्यमयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत को अंतर्जगत के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिये भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादप्रस्त भयंकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी ही है, गंदगी पर इत्र का छिड़काव। इस तरह विवाद-व्याधि के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर है, जड़ प्राप्ति द्वारा, रुपये-पैसे या जमीन से उसका निराकरण हो भी नहीं सकता। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यही सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का संबंध है। संस्कृत जीवन कुम्हार की बनाई मिट्टी है, जिससे इच्छानुसार हर तरह के उपयोगी वर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रायः एक दूसरा तरीका अखितयार कर बैठते हैं, वह, साहित्य के भीतर से अभ्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिणति आप प्राप्त करेगा।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि-आदि की जातीय रेखाओं से चकर काटती हुई गंगासागर, मक्का और जरूसलेम की तरफ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता टन जाती है। उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है, और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिये नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भरनेवाला, नया जीवन फूँकनेवाला है। साहित्य में बहिर्जगत-संबंधी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए, जिसके प्रसार में केवल मक्का और जरूसलम ही नहीं, किंतु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हृद गंगासागर तक रही, तो कुछ जन-समूह में मक्के का खिन्नाव जरूर होगा, या बुद्धदेव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही शायब कर दिए जा सकें, तो तमाम दुनिया के तीर्थ होने में संदेह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओं, सब अंगों के लिये हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रंग यही का है। काल-क्रम से अब हम लोग उस रंग से खींचे हुए चित्रों से इतने प्रभावित हैं कि उस रंग की याद ही नहीं, न उस रंग के चित्र से अलग होने की कल्पना कर सकते हैं, और इसीलिये पूर्ण मौलिक बन भी नहीं पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खींच सकते हैं, जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हों।

राजनीति में जाति-पाँति-रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्ता तमाम देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग समस्वर से बोलने और एक राह से गुजरने लगते हैं। उनमें जितने अंशों में व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते हैं, उतने ही अंशों में वे एक दूसरे से अलग हैं, इसलिये कमजोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है, जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो। जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा, तब विरोध में खंड-क्रिया होगी ही नहीं। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना सहज है।]

काव्य में रूप और अरूप

प्रायः सभी कलाओं के लिये मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिष्ठा मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है, जो भावना-पूर्ण सर्वांग-सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है, वह उतना बड़ा कलाकार है। पश्चिमी सभ्यता के मध्यकाल तक जब संसार की विभिन्न सभ्यता-प्रसूत यस्तु-भावनाओं का श्रेणी-विभाग, गंचय तथा उपयोग नहीं हुआ था, कलाएँ अपने-अपने देश, संस्कृति तथा काल के अनुसार विभिन्न आकार, इंगित तथा भावनाएँ प्रदर्शित करती हुई भी एक ऐसी व्यंजना कर रही थीं, जो तमाम भिन्नताओं के भीतर से एक भावसाम्य की स्थापना करती थी। संसार की भौतिक सभ्यता से सब देशों के गुँथ जाने के कारण संसार-भर के लोगों को वह आत्मिक लाभ पहुँचा। फल-स्वरूप कला में देश-भाव की जो संकीर्णता थी, आदान-प्रदान की सहृदयता ने उसे तोड़ दिया, कला की सृष्टि व्यापक विचारों से होने लगी, और हर जाति की उत्तमता से प्रेम-संबंध जोड़कर लोग उससे अपनी जातीय कला को प्रभावित करने लगे।

काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन मालकौश राग की वीर मूर्ति अँगरेजी-स्वर में, नायिका

के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की शक्तों में मिलाने लगा, और बहार तथा आसावरी को लोकप्रियता धिएटरो को मित्र-हृदय को गुदगुदाकर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाला रागिनियों ने ले ली। इसी प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद्य-वैशिष्ट्य की परिखा को पार कर संसार के प्रांगण में नए दूसरे-ही-दूसरे रूप से देख पड़ने लगे। उनके रूप-भाग में कुछ देशीय विशिष्टता रह गई, पर अरूप-भाग से वे मनुष्य-मात्र की संपत्ति बन गए। अरूप-अंश, वर्णाना-भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अक्लेद रहा, रूप-अंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।

रवीन्द्रनाथ भारतीय काव्य-साहित्य में इस कला के निपुण कलाकार हैं। उनका एक उदाहरण दूँगा—

‘अचल आलोकें रएछ दांडाए ,

किरण-वसन अंगे जड़ाए ,

घरयेर तले पड़िछे गड़ाए ,

छड़ाए विविध अंगे ;

गंध तोमार विरे चारि धार ,

उड़िछे आकुल कुंतल-भार ,

निखिल गगन काँपिछे तोमार

परस-रस-तरंगे ।

(अचल प्रकाश में तुम खड़ी हुई हो, किरणों की शुभ्र-

बसना, चरणों से ज्योति का बल विविध भंगों से टूटता दुल-
कता हुआ । सुरभि तुम्हारी चारो दिशाएँ घेरे हुए है ।
केशों का व्याकुल भार उड़ता हुआ । तुम्हारे स्पर्श-रस की
तबंगों से अखिल आकाश प्रकंपित हो रहा है ।)

यह नारी-मूर्ति इतनी मार्जित है कि इसे देखकर कोई
विश्व-नागरिक इस ज्योतिर्मयी छवि पर मुग्ध हो जायगा ।
तुलसीदास के केवल-सौंदर्य राम की तरह रवींद्रनाथ की इस
सुंदरी में जड़ता आणु-मात्र के लिये भी नहीं । यहाँ एक जगह
रवींद्रनाथ का पश्चिम स्नेह रूपमय प्रमाण के तौर पर प्रत्यक्ष
होता है । जहाँ चरणों से ज्योति का बल टूटता हुआ गिरता
है, वहाँ ध्यान पश्चिम की सम्राज्ञियों के पीछे लटकते हुए
लंबे बल्ल के छोर की ओर जाता है ।

सौंदर्य, रूप तथा भावनाओं के आदान-प्रदान में केवल पूर्व
पश्चिम से प्रभावित हुआ, यह बात नहीं ; सहृदयता का अमृत
यहाँ से वहाँ भी अपनी मूल-संजीवनी का विशिष्ट परिचय दे
रहा है । जिन-जिन प्रांतों में अंगरेजी शासन का पहला प्रभाव
पड़ा, इस नवीन साहित्य की जड़ वहाँ-वहाँ पहले जमी, और
इसलिये वहाँ के साहित्यिक इस कार्य में बहुत कुछ प्रगति कर
चुके । मेरा मतलब खास तौर से सुवर्ण बंगाल से है । बंगाल
के अमर काव्य 'मेघनाद-वध' के रचयिता माइकेल मधुसूदन-
दत्त के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने महाकाव्य
की रचना कई देशों के महाकवियों के अध्ययन के पश्चात्

की थी। फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि कई भाषाएँ जानते थे, और योरप में रहने के समय काव्य-शास्त्र में काफी प्रवेश कर लिया था। कुछ ही, माइकेल मधुसूदन की रचना में जितनी शक्ति मिलता है, उतना जीवन नहीं मिलता। रवींद्रनाथ द्वारा बंग-भाषा को वह जीवन मिलता है। उनकी अकेली शक्ति बीस कवियों का जीवन तथा इंद्रजाल लेकर साहित्य के हृदय-केंद्र से निकली और फैली।

हिंदी में छायावादी कहलानेवाले कवियों से इसका श्रीगणेश हुआ। प्राचीन साहित्य के रत्नों की साहित्यिक प्रतिष्ठा को पार कर अपनी नवीनता की जड़ साहित्य के हृदय में पूर्ण रीति से जमाने में अकृतकार्य रहने पर भी अधिकांश आलोचकों के कहने के अनुसार, पद्य-साहित्य का बाजार आजकल इन्हीं के हाथ है। श्रेय अभी खड़ी बोली के मध्यकाल के कवियों को मेरे विचार से अधिक है, पर जहाँ प्राणों की बात उठती है, वहाँ आधुनिक कवि ही ज्यादा ठहरते हैं। प्रसादजी की भावनाओं और पंतजी के चित्रों में अभीप्सित नवीनता की कोमल किरण बड़ी खूबसूरती से फूट निकली है।

पर अभी हमारे नवीन साहित्य को समयानुकूल परिमार्जित और भी विराट् भावनाएँ मिलनी चाहिए। इतने ही से उसका वैश्य दूर नहीं होता, और न अभी उसकी दिगंत पुष्टि ही हुई है। जैसा भी कारण हो, हिंदी के नवीन पद्य-साहित्य में विराट् चित्रों के खींचने को तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना

छोटे-छोटे सुन्दर चित्रों की ओर है। युक्तप्रान्त, बिहार, मध्य-भारत, मध्यप्रान्त आदि एक ऐसी प्रकृति की गोद में हैं, जहाँ विराट् दृश्यों की अपेक्षा बाग तथा उपवनों के छोटे चित्र ही विशेषतः सूझते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, समुद्र तथा आकाश के उत्तमोत्तम चित्र नहीं मिलते। रवीन्द्रनाथ द्वारा अंकित सौंदर्य का एक विराट् चित्र —

जेनो गो विवशा होयेछे गोधूली,
 पूरवे आंधार बेणी पड़े खुली,
 पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया
 सोनार आंचल तार ।

(मानो गोधूली विवशा हो रही है, पूर्व ओर उसकी अंधकार-बेणी खुली पड़ती है, और पश्चिम की तरफ खुल-खुलकर उसका सोने का आंचल गिर रहा है।)

छोटे रूप की क्षणिक प्रभा में स्थायी प्रभाव न मिलने के कारण रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

“बुद्ध रूप कोधा जाय बतसे उबिया हुइ चारि पलकेर पर”

(छोटा रूप न-जाने कहाँ हवा में दो ही चार पल में उड़ जाता है।)

काव्य में साहित्य के हृदय को दिगंत-व्याप्त करने के लिये विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यंत आवश्यक है। अतः छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नहीं दिखलाया जा रहा। रूप की सार्थक लघु-विराट् कल्पनाएँ संसार के

सुंदरतम रंगों से जिस तरह अंकित हों, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष। इस तरह काव्य के भीतर से अपने जीवन के सुख-दुःखमय चित्रों को प्रदर्शित करते हुए परिसमाप्ति पूर्णता में होगी। जैसे—

कभी उदते पत्तों के साथ,
 मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
 बदरकर लहरों से लघु हाथ
 बुलाते हैं मुझको उस पार।

साहित्य का फूल अपने ही वृत्त पर

कला निष्कलुप है। दुनिया में वह अपना सानी नहीं रखती। साहित्यकार के लिये उसके अपर अंगों के ज्ञान से पहले बोध आवश्यक है। जैसे बीजमंत्र, उसका अर्थ, परचात् अनिश्च सुंदर रूप उसी के फूल की तरह उसके अर्थ के डंटल पर खिला हुआ। नया जन्म जिस तरह, एक युग की संचित अनुभूतियाँ अपने भीतर से रूप और भाव पैदा करती हैं; यही युगांतर की कला है—साहित्य में रस और रूप के प्रवर्तन का दिव्य स्रोत। सूक्ष्मतम विवेचन सनातन को जिस तरह नित्य स्थिति देता है, उसी तरह कला भी नित्य रहस्य में दाखिल है—अपरिवर्तनीय; पर नए कोंपल, नए फूल, नई शरत्, नई आँखें, नई शशि-स्निग्ध दृष्टि और नई रोशनी अपने समय के नकाब के भीतर से अचंचल देखती हुई लोगों की नज़र बाँध ही लेती हैं। इसीलिये नित्य-नवीन, चापन्य-तल्प, अप्रसंग काम्य, साहित्य की एक ही कल्पलता है। जिसे पुरानापन कहते हैं, वह जैसे एक युग तक एक खास तौर की कला पर नज़र फेरते हुए अभ्यास के जंग की ही मलिनता हो; फिर जैसे सुबह के सूरज की किरनों से निखरा, शबनम का धुला हुआ नया फूल आकल बाल पर उलकीया

कला का एक नैसर्गिक चुंबन बन रहा हो। साहित्य की जमीन खिल उठती है।

कला का आकरण-भेद वैसा ही है, जैसा व्याकरण का; जल जड़ हुआ, जड़ जल; ऐसा ही दर्शन-शास्त्र में। महर्षि सिर्फ सामयिक है। समय का प्रभाव ही एक खास जल को तीर्थ-जड़ और जंगम चेतन बना देता है, जैसे कैलास को अर्धेन्द्र-शिखरा कला गंगा को महर्षि देती, कृष्ण की अखिल 'तत्त्वमसि' कला यमुना को, महाकालेश्वर की पल-त्वरित-पद-ताल क्षिप्र को, अनसूयाजी की पयःस्राविनी तपस्या पयस्विनी को। कला उसी तरह समय के स्वर्ण-घट में प्राण प्राप्त कर पूजक साहित्यिकों की दिव्य दृष्टि बन जाती है, जिससे साहित्य का असामयिक जड़ पिघलकर जल बनकर बह चलता है।

जैसे संगीत में किसी एक रागिनी की प्रधानता नहीं, बंगाली, पूरबी, मुलतानी, गजल, कनाडी, तिलंगी, बैरारी, लखनऊ की ठुमरी आदि ऐकदेशिक तथा मिली हुई रागिनियों के सार्वभौम प्रचार के साथ-साथ बड़े राग तथा रागिनियों सर्वत्र गाई जाती हैं, और अब देश के प्राणों के साथ बिलकुल परिचित की तरह मिल गई हैं, वैसे ही कला के अपने सामयिक लिखास से पहलेपहल आने पर थोड़े ही से लोग वह रंग व रूप पहचान सकते हैं; क्योंकि अपने समय की वस्तु का आविष्कार, पूर्व-सूचन, परिचय और समर्थन आदि विज्ञानवेत्ता हा करते हैं। हर रागिनी की जान की तरह साम-

यिक साहित्यकला की भी एक जान है। जान रागिनी की सच्ची पहचान है, और साहित्य-कला की पहचान उसकी व्यापक महत्ता, एक अक्षर जो दिल को खिलाता और हिलाता है, मौसम की तरह, एक खिज़ाँ, दूसरा बहार। दोनों में अलग-अलग स्वर बज रहे हैं।

हर देश की एक खुसूसियत कहलाती है, जो उसकी आबो-हवा से मिली होती है। हिंदोस्तान की जितनी बातें प्राणों से मिली हुई आत्मा बन गई हैं, वे इस समय उसकी अपनी चीजें कहलाती हैं। अपनी संस्कृति पर हम इसे ही पहले की संस्कृति और अब अभ्यास में बदली हुई परिणति कहते हैं; यह आत्मा होकर भी आत्मा नहीं, जीर्णता है, भले ही सनातन हो। हम नवीनता को ही यहाँ सनातन कहेंगे। आत्मा पुरानी नहीं होती, चोला पुराना होता है। इस तरह, पकड़ रखने की कोई चीज, कोई संस्कृति नहीं हो सकती, और चोला पकड़ रखने पर भी पकड़ा नहीं रहता। अब और हवा पकड़े नहीं जा सकते। इसलिये देश की आबोहवा या खुसूसियत कोई चीज नहीं हो सकती। स्वामी विवेकानंदजी इसीलिये हिंदोस्तानियों की कोई नस्ल नहीं निकालते—“शून्य भीत पर चित्र रंग बहुत, तन बिन लिखा चित्तेरे”—यही यहाँ की नस्ल है।

आब और हवा हर वक्त नए हैं, यहाँ तक कि कूप-मंडूक को भी कुएँ के अतल सोते से नया-ही-नया जल मिलता जाता है। हवा रोज ताज़ी चलती, आसमान हर वक्त नए रंग

बदलता है। फिर भी लोग संस्कारों के अनुसार की हुई— सोची हुई बातें ही लिखते, चलते हुए राहें ही चलते हैं। हम साधारण जन इसे ही अपने साहित्य की, जो कुछ लिए हुए हैं, उसकी रचना-कल्पनाएँ किया करते हैं। यही हमारा सनातन-धर्म है। इसी लिए और सोचे हुए में दूबकर चमत्कृति को हम लोगों ने संस्कृति बना लिया है। पर यहाँ जैसे बस्त्रों के बारे में प्रतिलिपि है, चित्र हैं कि बौद्ध-काल तक यहाँ सिले हुए कपड़े नहीं बन सकते थे, यह मुसलमानों की दी हुई विभूति है, यद्यपि सूचि-न्यूह से सुई और नौ-विद्या से Navigation का होना साहित्य-संभव है, अस्तु, उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि कुर्ता, वास्केट, मिर्ज़ई आदि की सुहावनी प्राचीनता इस देश की आवोहवा के लिये संभव होती हुई भी अब संभाव्यता को बहुत घुरी तरह जकड़े हुए है, जैसे श्रीरामजी मिर्ज़ई पहनकर दरबार में जाते रहे हों! कम-से-कम वैदिक साहित्य के ज्ञाता हमारे आर्य-समाजी भाई तो ऐसा ही कहेंगे।

हम दोनो प्रकार की कला को साहित्य में सन्निविष्ट करते हैं। जिस वृत्त पर वह कृति की कलिका खिलती है, वह है भाषा। भाषा भी समयानुसार अपना रूप बदलती रहती है। कला के विकास के साथ-साथ साहित्य में नई भाषा भी विकसित होती है। हरा कैंडेदार मजबूत डंटल ही कुशांगी नवीन कला को चाहिए। कोमल और कठोर, आत्मा और

प्राणों का ऐसा ही संबंध रहा है। व्रज-भाषा पूर्ण भाषा है, खड़ी बोली हिंदी के हृदय की अश्रांत आशा, सार्वदेशिक प्रसार से लिपटी हुई, जड़ और चेतन के विश्व-संसर्ग से बंधन-हीन, चित्रा और विचित्रा। यह घर बड़े ही मर्मज्ञ कलावंत का है। वह व्रज-साहित्य अपने भावना-प्रसार को कर्मकांड तथा ज्ञानकांड के भीतर से शेर के संकोच को ऋपट में देखना चाहता है। तमाम विश्व, नहीं, तमाम सौरमंडल को क्रिया तथा ज्ञान के भीतर डाल लेना चाहता है; महावीर विजयी सिकंदर एक नंगे संन्यासी का शौर्य निर्भय तंत्र में प्रदर्शित करता है, इसीलिये यह कला दिग्बसना श्यामा सुंदरी है—ज्ञानांबुधि की अगणित-ऊर्मिसयी महासीमा। वह प्राचीन वसंत आज अनंत-किसलय-मृदुल पुष्पसंकुल स्निग्ध-वायु-कंपित मर्मर ध्वनि करता, अभ्यास-जीर्यता उड़ाता हुआ पुनः प्रतिष्ठित होना चाहता है।

